आन्तरिक कायाकल्प
का
सरल किन्तु सुनिश्चित विधान
– श्रीराम शर्मा आचार्य

आन्तरिक कायाकल्प का सरल किन्तु सुनिश्चित विधान

लेखक :

ब्रह्मवर्चस्

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

२०१० मूल्य : ३२.०० रुपये

विषय-सूची

क्रमांक | पृष्ठ संख्या

अध्यात्म क्षेत्र की उच्चस्तरीय सफलताओं का सुनिश्चित राजमार्ग

भौतिक क्षेत्र की सफलताएँ योग्यता, पुरुषार्थ एवं साधनों पर निर्भर हैं । आमतौर से परिस्थितियाँ तदनुरूप ही बनती हैं । अपवाद तो कभी-कभी ही होते हैं । बिना योग्यता, बिना पुरुषार्थ एवं बिना साधनों के भी किसी को कारूँ का गड़ा खजाना हाथ लग जाय, छप्पर फाड़कर नरसी के आँगन में हुण्डी बरसने लगे तो इसे कोई नियम नहीं, चमत्कार ही कहा जायगा । वैसी आशा लगाकर बैठे रहने वाले, सफलताओं का मूल्य चुकाने की आवश्यकता न समझने वाले व्यवहार जगत में सनकी माने और उपहासास्पद समझे जाते हैं । नियति-विधान का उल्लंघन करके, उचित मूल्य पर उचित वस्तुएँ खरीदने की परम्परा को झुठलाने वाली पगडण्डियाँ ढूँढ़ने वाले पाने के स्थान पर खोते ही खोते रहते हैं । लम्बा मार्ग चलकर लक्ष्य तक पहुँचने की तैयारी करना ही बुद्धिमत्ता है, यथार्थवादिता इसी में है । बिना पंखों के कल्पना लोक में उड़ान उड़ने वाले बहिरंग जीवन में, व्यवहार क्षेत्र में कदाचित् कभी कोई सफल हुए हों ।

अध्यात्म-क्षेत्र सूक्ष्म, अदृश्य, अविज्ञात जैसा लगता भर है । वस्तुतः वह भी अपने स्थान पर भौतिक जगत की तरह सुस्थिर और सुव्यवस्थित है । आँखों से न दीख पड़ने पर भी उसकी सत्ता सन्देह से परे है । शरीर दीखता है, प्राण नहीं । प्राण की नापतौल न तो इन्द्रिय शक्ति से हो सकती है और न किसी यंत्र-उपकरण से, फिर भी उसकी सत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता । मरणोत्तर जीवन का अस्तित्व भी ऐसा ही है, जिसका यांत्रिक पर्यवेक्षण नहीं हो सकता । इतने पर भी वह पुरातन की तरह आधुनिक निर्धारणों से ही अपने अस्तित्व का परिचय देता है । विचारों की इच्छा-शक्ति, साहस आदि अदृश्य प्रसंगों की विशिष्टता एवं परिणति से कोई इन्कार नहीं कर सकता । यह अदृश्य जगत के अनेकानेक प्रमाणों में से कुछ हैं । यह क्षेत्र अव्यवस्थित नहीं है । अणुओं और तरंगों से विनिर्मित पदार्थ जगत् की तरह ही उसका भी सुनिश्चित और

व्यापक अस्तित्व है, उसकी भी गति-विधियाँ चलती और प्रतिक्रियाएँ होती हैं । अस्तु उसके भी अपने सुनिश्चित नियम, विधान और अनुशासन होने का तथ्य भी स्वीकारना होगा । अन्धेरगर्दी, अराजकता, मनमानी अदृश्य जगत में भी न चलती है और न टिकती-ठहरती है । अतः अदृश्य जगत् के सम्बन्ध में भी यह नहीं सोचा जाना चाहिए कि वहाँ किसी नियम-अनुबन्ध की आशा नहीं है । 'अँधेर नगरी बेबूझ राजा' की युक्ति सुनी तो जाती है, पर देखी कहीं नहीं गई । हर क्षेत्र के अपने-अपने नियम, विधान, अनुशासन हैं । अध्यात्म क्षेत्र भी उसका अपवाद नहीं हो सकता । सृष्टा की इस समूची कृति में कहीं भी अव्यवस्था नहीं है । यहाँ तक कि भूकम्प-तूफान जैसी अप्रत्याशित यदा-कदा होने वाली घटनाएँ भी प्रकृति के सुनिश्चित नियमों के अन्तर्गत ही होती हैं, भले ही उन्हें हम अभी पूरी तरह न समझ पाये हों ।

अध्यात्म क्षेत्र का तत्वज्ञान, विधान, स्वरूप और प्रतिफल समझने वालों को इस तथ्य को हृदयंगम करना ही होगा कि इस क्षेत्र के सुनिश्चित निर्धारण और अनुशासन सृष्टा ने बनाये और सुरक्षित रखे हैं । उन्हीं को समझाने-अपनाने से काम चलेगा । अँधेरे में ढेला फेंकते रहने वाले अपना परिश्रम निरर्थक गँवाते हैं । निशाना साधने में सफलता उन्हें नहीं मिल पाती । अन्धविश्वासों और मूढ़-मान्यताओं के आधार पर तथ्यों को सही मान लेने की भ्रान्ति किसी भी विवेकशील को नहीं अपनानी चाहिए । आहार क्षेत्र में मसालों का प्रचलन, जलाने, भूनने का रिवाज सर्वत्र प्रचलित है । नमक और शक्कर के बिना ग्रास गले से उतरते ही नहीं, फिर भी नमक (सोडियम क्लोराइड) एक सीधा विष है और उसका प्रभाव आरोग्य के लिए विघातक हो सकता है-इस तथ्य को झुठलाया नहीं जा सकता है । सिगरेट, चाय से लेकर शराब तक के अनेकानेक नशे होठों से बुरी तरह सट गये हैं । लोक प्रचलन क्षेत्र में इनकी धूम है, फिर भी उनके औचित्य का समर्थन किसी भी प्रकार नहीं किया जा सकता । सामाजिक क्षेत्र में रंगभेद, वर्णभेद, लिंगभेद आदि के नाम पर चलने वाली विषमता न जाने कब से चली आ रही है और न जाने कब तक चलती रहेगी । खर्चीली शादियाँ हमें दरिद्र और बेईमान बनाती हैं-इसे कौन नहीं जानता, फिर भी यह कुप्रचलन शिक्षितों और अशिक्षितों को समान रूप से

अपनाते हुए आये दिन दीखते हैं। ऐसी अनेकानेक मूढ़ मान्यताओं में एक यह भी है कि अदृश्य जगत का कोई विधान–अनुशासन नहीं है। उसमें कोई भी चमत्कार किसी भी विडम्बना के सहारे कुछ भी लाभ अर्जित कर सकने में समर्थ हो सकता है। इस भ्रांति ने अध्यात्म क्षेत्र में एक प्रकार की अराजकता उत्पन्न कर दी है। लोगों ने मनमानी कल्पनायें की हैं, मनमाने अर्थ लगाये हैं और मनमाने हथकण्डे अपनाये हैं। किसी को भी कुछ भी कर बैठने की छूट है। रस्सा किसी के हाथ पैरों से बँधा है, विचार खूंटे से कहीं और बँधे होते हैं। इस छूट के रहते हुए भी प्रतिफल के सम्बन्ध में सभी अनुशासन से बँधे हैं। करता कोई कुछ भी रहे, परिणाम के सम्बन्ध में नियति–व्यवस्था पर ही आश्रित रहना पड़ेगा। कुछ करने वाले को कुछ भी परिणाम भुगतने के लिए तैयार रहना चाहिए। सुनिश्चित परिणामों की आशा करने वालों को गणितीय सिद्धांत समझने ही नहीं अपनाने भी होंगे।

अध्यात्म क्षेत्र की आश्चर्यजनक, अवास्तविक और भयावह मान्यता यह है कि कुछ जन्त्र–मन्त्र की टन्ट–घन्ट करने से देवताओं को जाल में जकड़ा और मनमर्जी की मनोकामनायें पूरी करने के लिए विवश किया जा सकता है। इस भ्रम जाल ने मनुष्य जाति को बेतरह भटकाया है। ठोकरों पर ठोकर, असफलताओं पर असफलता प्राप्त करते रहने पर भी न जाने यह मान्यता क्यों नहीं हटती कि बिना मूल्य या कम मूल्य में उच्चस्तरीय सम्पदायें, सफलतायें प्राप्त कर सकना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। देवताओं का न जाने क्यों लोगों ने इतना हेय स्तर मान लिया है कि किसी की पात्रता, प्रामाणिकता परखे बिना मात्र पूजा उपचार के अथवा ऐसे ही गिड़गिड़ाने, नाक रगड़ने के बदले माँगे हुए वरदान बरसाने के लिए तैयार बैठे रहते हैं। यदि वस्तुतः ऐसा होता तो उसे अदृश्य जगत की अराजकता, अन्धेरगर्दी के अतिरिक्त और क्या नाम दिया जाता। जहाँ पात्रता, पराक्रम की कोई आवश्यकता न समझी जाय, मात्र छलभरी मनुहार ही अपनाने भर से उल्लू सीधा होता रहे तो उसे क्या कहा और समझा जाय यह विज्ञजनों का विचारणीय विषय है।

पूजा की जादुई क्षमता, गिड़गिड़ाने भर से मनचाही सम्पदा किस

आधार पर सही मानी जाती है इसका कोई तुक किसी भी प्रकार नहीं बैठता । देव प्रतिमाओं की दर्शन-झाँकी करते फिरते और उन पर फूल पत्ते चढ़ाने वाले न जाने उस नगण्य से क्रिया कौतुक के बदले क्या-क्या मनौती माँगते हैं । तथाकथित संत महात्माओं के दर्शन भर करने के लिए आतुर लोग तत्वदर्शन से सर्वथा अपरिचित प्रतीत होते हैं । वे आँखों से छवि देखने भर को ही दर्शन मान बैठे हैं और इतने भर से अपनी भक्ति-भावना का परिचय प्रस्तुत करते और मनचाहे वरदान पाने की अपेक्षा करते हैं । इस मान्यता के पीछे क्या सिद्धांत काम करता होगा यह खोज करना कठिन ही नहीं असम्भव भी है । दर्शन-झाँकी करने भर से दैवी अनुग्रह बरसने लगे तो इसका अर्थ यह होगा कि आत्म परिष्कार, जीवन शोधन, तप साधन जैसे कष्ट साध्य प्रतिपादन करने और वैसा कराने के लिए कहने वाले नितान्त मूर्ख हैं । जो काम चुटकी बजाते बिना किसी श्रम-त्याग के, उथली विडम्बनायें अपनाने भर से पूरा हो सकता है उसके लिए कोई कष्ट साध्य रीति-नीति अपनाने के झंझट में क्यों पड़ेगा ?

मनुहार करने भर से दैवी अनुकम्पा बरसने लगने की मान्यता बाल-बुद्धि की परिचायक है । लेने वाले के हिस्से में ही सारी चतुरता नहीं आई, कुछ तो परख देने वाले में भी होती है । अपनी सुयोग्य कन्या कोई किसी भी ऐरे-गैरे याचक के पल्ले बाँधने और माँगने वालों की मनोकामना पूरी करने के लिए तैयार नहीं होता है ? फिर दैवी अनुकम्पा का क्षेत्र ही क्यों ऐसा माना जाय कि वहाँ माँगने या पूजा-अर्चा की भोंड़ी लकीर पीट देने से ही मनमानी सफलता पाने का अधिकार मिल गया । यदि दैवी शक्तियाँ वस्तुतः ऐसे ही अनबूझ हों तो उन्हें भी विवेक शून्य कहा जायगा और अध्यात्म क्षेत्र में अनुशासनहीनता फैलाने, नियम मर्यादा समाप्त करने का दोषी ठहराया जायगा ।

भौतिक जगत में सस्ते में बहुमूल्य पाने का नियम नहीं है । यहाँ सब कुछ प्रामाणिकता और पुरुषार्थ के आधार पर खरीदा जाता है । विज्ञजनों को अध्यात्म जगत में भी इसी विधान प्रचलन की आशा करनी चाहिए । जेबकटी, लूटमार अनैतिकों को और जादुई कौतुक बाल-बुद्धि

को आकर्षित कर सकते हैं । विज्ञजन इसे अनुचित मानते और लाभ कम घाटा अधिक देखकर मुँह मोड़ लेते हैं । जिन्हें वस्तुतः अध्यात्म जगत का स्वरूप समझने में रुचि हो उन्हें उसके नियम–निर्धारणों को भी समझना चाहिए । विज्ञान ने यही किया है और श्रेय लिया है । पुरातन अध्यात्म का स्वरूप भी ऐसा ही था । उसमें तत्वदर्शन का महत्व समझा जाता था, ब्रह्म–विद्या के नीति–नियमों को अपनाया जाता था, अभीष्ट प्रगति के लिये तदनुरूप साधना का मूल्य चुकाया जाता था । आज तो सब कुछ उलटा ही उलटा दीखता है । भ्रम–जंजाल सघन अंधकार की तरह इतना गहन है कि हाथ को हाथ नहीं सूझता । लूटमार के लिए आतुर लोग अपने को भक्त कहते और भक्ति के प्रतिफल का दावेदार मानते हैं । मनोकामना पूर्ण न होने पर गाली देने से लेकर अश्रद्धा व्यक्त करने में उग्र रूप धारण करते देखे जाते हैं । प्रचलित मान्यताओं को क्या कहा जाय ? उनके प्रचलन का क्या आधार खोजा जाय ? और उन्हें अपनाने वालों को बुद्धिमान, अबुद्धिमान क्या कहा जाय ? कुछ कहते नहीं बनता । समझ कुछ काम ही नहीं करती ।

कौन क्या सोचता और क्या कहता या करता है ? इस उलझन को सिर ओढ़ने की अपेक्षा उचित यही है कि हम तथ्यों को समझें और सुनिश्चित राजमार्ग पर चलें । उचित मूल्य चुकायें और बहुमूल्य सफलतायें पायें । इन हेय प्रचलित मान्यताओं का आश्रय लेने और महत्व देने से कुछ बनेगा नहीं । हमें तथ्यान्वेषी होना चाहिए और यथार्थ को अपनाने में अपनी स्वतन्त्र चेतना का अवलम्बन करना चाहिए । लोग क्या कहते और क्या करते हैं, इस जंजाल में उलझने का अर्थ अन्धी भेड़ों के पीछे चल पड़ना और अन्ततः अपने को भी उसी गर्त में गिरा कर वैसी ही दुर्गति करा लेना होगा । ऐसे प्रसंगों में स्वतंत्र निर्णय लेना और अपना पथ आप चुनना चाहिए । ऐसा साहस उभारने में कवीन्द्र रवीन्द्र का यह उद्‌बोधन अपनाये जाने योग्य है जिसमें उन्होंने भाव भरे स्वर में गाया था–'एकला चलो रे ।'

अध्यात्म तत्वज्ञान का प्रथम निर्धारण है–आत्मशोधन, आत्म–परिष्कार अर्थात् संचित मल, आवरण, विक्षेपों का, कषाय–कल्मषों

का, संचित कुसंस्कारों का निराकरण, उन्मूलन । इसे रंगाई से पूर्व की धुलाई, बुवाई से पूर्व की जुताई कह सकते हैं । हम समस्याओं, चिंताओं, विपत्तियों के घटाटोप, दृष्टिकोण की विकृति, आदतों की विपन्नता तथा गतिविधियों में घुसी हुई अवांछनीयता के कारण जीवन–आकाश पर छाते, उपल वृष्टि से वर्तमान को संकटग्रस्त तथा भविष्य को अन्धकारपूर्ण बनाते हैं । इस विपत्ति का निराकरण आत्म–शोधन के बिना और किसी प्रकार सम्भव नहीं हो सकता है । नाली में जमी सड़ी कीचड़ न हटे तो उस उद्गम से जन्मते कृमि–कीटकों को हटाते रहने पर भी पिण्ड छूटने वाला नहीं है । तप साधना का उद्देश्य संचित कुसंस्कारों के विरुद्ध अनुनय–विनय, सहन–सिखावन को निरर्थक समझते हुए तेजस्वी विद्रोह खड़ा कर देना है ।

अध्यात्म क्षेत्र की सम्पदायें भौतिक क्षेत्र से असंख्य गुनी बड़ी हैं । शरीर में प्राण का महत्व अत्यधिक है और सम्पदाओं की तुलना में विभूतियों का महत्त्व अत्यधिक है । बड़प्पन अपनी जगह और मानवता अपनी जगह । वैभव और वर्चस् की कोई तुलना नहीं । अभ्यास न रहने, उदाहरण न दीखने, अनुभवजन्य प्रेरणा न मिलने से अध्यात्म की गरिमा एक प्रकार से अविज्ञात ही नहीं, लुप्त प्रायः भी हो चली है । पूजा और मनोकामना का तालमेल बिठाने वाली विडम्बना ने हर किसी को सस्ती लूटमार के भ्रम–जंजाल में फाँस दिया है । ऐसी दशा में अध्यात्म–विभूतियों को विज्ञान की उपलब्धियों की तुलना में विशिष्ट और वरिष्ठ सिद्ध कर सकना कैसे बन पड़े ? यदि यह समझा और समझाया जा सके कि बलिष्ठता, सुन्दरता, कुशलता, शिक्षा, प्रतिभा, पदवी की तुलना में ओजस्, तेजस्, वर्चस् से सम्पन्न व्यक्तित्व की क्षमता अत्यधिक है, तो लोग अपनी समूची जीवन सम्पदा पेट प्रजनन के कुचक्र में ही समाप्त न करें, वरन् आत्मा को बलिष्ठता प्रदान करने और अध्यात्म जगत के साथ जुड़े हुए देवत्व का सम्पादन करने की दिशा धारा भी अपनाने लगें ।

उदाहरण न मिलने पर सन्देह और अविश्वास रहना स्वाभाविक है । इसकी व्यापकता मिटाने का एक ही उपाय है कि भूतकाल के

ऋषि–मनीषियों की, भक्तजनों की दुहाई देते रहने की अपेक्षा ऐसे प्रत्यक्ष उदाहरण प्रस्तुत करें जिनके आधार पर आत्मक्षेत्र की गरिमा और उपलब्धियों का प्रत्यक्ष प्रतिफल देखने को मिल सके । यह तभी सम्भव है जब अध्यात्म क्षेत्र का स्वरूप, विधान एवं अनुशासन सही रूप में समझने और अपनाने का सरंजाम जुटे, आधार बने । इसके लिए यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाना होगा और समझना होगा । अध्यात्म की प्रेरणायें–इस क्षेत्र के अनुयायियों को आत्मचिंतन, आत्मनिर्माण एवं आत्मविकास के लिए बाध्य करती हैं । आत्म सत्ता का परिष्कृत स्वरूप ही इस योग्य बनता है कि सूक्ष्म लोक की अधिष्ठात्री देव चेतना के साथ आदान–प्रदान सम्भव हो सके । देव–अनुग्रह की बात इससे कम में बनती ही नहीं । पूजा उपचारों के अनेकानेक विधि–विधान उच्चस्तरीय सत्ता को लुभाने–फुसलाने के लिए विनिर्मित नहीं किए गये हैं वरन् उनका निर्धारण इसलिए हुआ है कि साधक को अपने अन्तराल में भाव–श्रद्धा, मनःसंस्थान में दूरदर्शी विवेकवान प्रज्ञा तथा प्रखर पुरुषार्थ से भरी–पूरी निष्ठा का उत्पादन–अभिवर्धन सम्भव हो सके ।

वेदान्त के 'अहमात्मा ब्रह्म', 'प्रज्ञानं ब्रह्म', 'तत्वमसि', 'शिवोऽहम्', 'सच्चिदानन्दोऽहम्' आदि सूत्रों में आत्मा के परिष्कृत स्वरूप को ही परमात्मा माना है । आत्मा का परमात्मा में विलय–परिवर्तन ही ईश्वर–प्राप्ति, ब्रह्म निर्वाण, जीवन मुक्ति आदि नामों से प्रतिपादित किया गया है । समूची ब्रह्म–विद्या का सार संक्षेप इतना ही है कि जीवन को, व्यक्तित्व को उत्कृष्ट आदर्शवादिता से ओत–प्रोत बनाने वाले चिंतन एवं आचरण का आश्रय लिया जाय । इसके लिए कुछ व्यायाम, उपचार, प्रयोगों की सहायता ली जाती है, उन्हीं को तप, साधना एवं योगाभ्यास करते हैं । यह समझने में भारी भूल हुई है कि यह बरगलाने वाले प्रयोग हैं । अपनी तराजू से ही परमात्मा को तोलना गलती है । प्रशंसा, रिश्वत, चापलूसी जैसे प्रयोग घटिया स्तर वालों को ही प्रभावित करते हैं । व्यक्तिगत सांठ–गांठ के डोरे उन्हीं पर डाले जा सकते हैं । ब्रह्म सत्ता का स्तर इससे कहीं अधिक ऊँचा है । वहाँ पक्षपात करने–कराने की चतुरता किसी भी प्रकार पहुँचती नहीं ।

पात्रता और प्रामाणिकता के अनुरूप बड़े अनुदान-वरदान देने, बड़े उत्तरदायित्व सौंपने की नीति की ही वहाँ मान्यता है, न्यायाधीश यही करते हैं । चुनाव और नियुक्ति करने वाले अधिकारियों तक में जब प्रतियोगिता जीतने वालों को विजयी घोषित करने की नीति अपनाई जाती है तो देवसत्ता के उत्कृष्ट स्तर को देखते हुए किसी को यह आशा नहीं करनी चाहिए कि यहाँ चतुरता की दाल गलती है और खिलवाड़ जैसे पूजा-उपचार के सहारे महत्वपूर्ण अनुदान-वरदान झटकने में सफलता मिल जायेगी ।

भ्रान्तियों का निराकरण हो सके, तो यथार्थवादी रीति-नीति अपनाने का अवसर मिले । सही राह पर चला जाय तो अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँचना सम्भव हो । ब्रह्मविद्या का सार संक्षेप इतना ही है कि साधक अपनी संचित कुसंस्कारिता से जूझे और उनके स्थान पर भावना, विचारणा एवं कार्यपद्धति में उत्कृष्टता का समावेश करने के लिए भागीरथी संकल्प अपनाये और पवनपुत्र जैसा समुद्र लाँघने का पराक्रम कर दिखाये ।

देवता के परिकार में ही सिद्ध पुरुष भी आते हैं । सिद्ध पुरुषों के अनुग्रह, आशीर्वाद, वरदान से भी ऐसे ही लाभों की आशा-अपेक्षा की जाती है जैसी कि देवताओं से । यहाँ अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक विचारणीय प्रश्न एक ही है कि ऋषि-कल्प लोग ऐसे वरदान देने में समर्थ हैं तो वह शक्ति उन्हें कहाँ से मिली ? किस प्रकार उपलब्ध होती है ? उत्तर एक ही है-आत्म परिष्कार की तप व साधना से । इस प्रकार देव-अनुग्रह कोई अनायास उपलब्ध होने वाला भाग्योदय नहीं रह जाता वरन् प्रयत्न एवं पुरुषार्थ की कीमत पर खरीदा हुआ वैभव ही सिद्ध होता है । वे कुछ पाने के अधिकारी तभी बने जब तद्नुरूप पात्रता सिद्ध करने में खरे सिद्ध हुए । विचारणीय यह है कि पात्रता के सिद्धांत पर अटूट विश्वास रखने वाले, स्वयं को उस योग्य बनाने के लिए गलाने-तपाने वाले क्या इतने मूर्ख हो सकते हैं जो अपनी ऐसी कठिन कमाई को उन चतुर लोगों पर बिखेरते फिरें जिनमें न तो कोई पात्रता है और न मनोकामनाओं में कोई आदर्शवादिता । कष्ट पीड़ितों की सहायता एक बात है, उसे सहृदयतापरक मानवोचित

गुण कहा जा सकता है और इस प्रकार के सहयोग को परोपकार कहा जा सकता है । उसका औचित्य भी है । किन्तु जिसके सिर पर रावण जैसी वितृष्णा पूरी करने का भूत सवार है और जो विलास, वैभव एवं अहंकार की पूर्ति के लिए ऋषियों, सिद्ध पुरुषों का तप वरदान के रूप में माँगते हैं, उनकी माँग को क्यों कर न्यायोचित माना जायेगा और क्यों उसकी पूर्ति के लिए कोई विवेकवान् अध्यात्मवादी सत्ता सहमत होगी । जो अन्यथा सोचते हैं वे भूल करते हैं और स्वार्थान्ध होकर औचित्य की परम्परा को ताक पर रख देते हैं । अपनी आत्म-सत्ता को देव-अनुग्रह के लिए उपयुक्त सिद्ध न कर सकने वाले लोग प्रायः निराश रहते हैं और अध्यात्म बदनाम होता है । देवता हों या सिद्ध पुरुष, वे प्रामाणिक व्यक्तियों को देते मात्र एक ही शर्त पर हैं कि वे उसका उपयोग विलास में नहीं वरन् लोकमंगल के उच्चस्तरीय प्रयोजन तक ही सीमित रखें ।

इस पुस्तक में अध्यात्म-विज्ञान की विधि-व्यवस्था ब्रह्मविद्या को सार-संक्षेप में समझाने का प्रयत्न किया गया है ताकि तथ्यों को समझ लेने के उपरांत इस क्षेत्र का महत्व समझने वाले, प्रवेश करने के इच्छुक और कुछ कहने योग्य उपलब्धियाँ प्राप्त करने वाले साहसी प्रगति पथ पर चल सकें और वह प्राप्त कर सकें जो यथार्थतावादियों को उपलब्ध होता रहा है, होता रहेगा ।

आत्मशोधन को तप कहते हैं और आत्म-क्षेत्र में उच्चस्तरीय विशिष्टताओं के समावेश को योग साधना । इन्हीं दो कदमों को क्रमिक गति से बढ़ाते हुए जीवन लक्ष्य तक पहुँचाने वाले राजमार्ग पर यात्रा-प्रवास निर्बाध रूप से सम्पन्न होता है । यही है कल्प साधना का तत्वज्ञान और विधि-विधान । कायाकल्प का प्रचलित अर्थ है-वृद्धावस्था को नवयौवन में बदल देना । यह अलंकारिक मान्यता है । उत्पादन, अभिवर्धन और परिवर्तन के चक्र में उभार और अवसान दोनों का समान महत्त्व है । दीर्घायुष्य सम्भव है, पर प्रवाह को उलट देना कठिन । वृद्धावस्था के उपरान्त यौवन, यौवन के बाद बचपन, बचपन के बाद भ्रूण स्थिति को प्राप्त कर सकना कठिन है । नियति को ऐसा परिवर्तन स्वीकार करने के

लिए सहमत नहीं किया जा सकता । मनुष्य की इच्छा भले ही कुछ भी क्यों न रहे । इस आधार पर वृद्धावस्था को कष्टसाध्य न होने देने और निरोग दीर्घायुष्य का आनन्द लेते रहने की सम्भावना को ही 'कल्प' मान लेना चाहिए और दूसरों की तुलना में अपने को अधिक सौभाग्यशाली मानकर सन्तोष करना चाहिए ।

'कल्प' का वास्तविक तात्पर्य है-अन्तराल का, व्यक्तित्व का, चिंतन का, चरित्र का, दृष्टिकोण का, स्तर का उपयुक्त परिवर्तन-परिष्कार । यह नितान्त सम्भव है । ध्रुव, प्रह्लाद, वाल्मीकि, अंगुलिमाल, बिल्वमंगल, अजामिल आदि अगणित व्यक्ति अवांछनीय केंचुल को बदलकर देखते-दिखाते पशु से मनुष्य और मनुष्य से देवता बने हैं । सामान्य परिस्थितियों में जन्में और पले व्यक्ति मूर्धन्य महामानवों में गिने गये हैं । यही वास्तव में कायाकल्प है । इस स्तर की उपलब्धियाँ प्राप्त करने के लिए क्या सोचना और क्या करना चाहिए ? इसी का इतिहास समर्पित और अनुभवों से भली-भाँति प्रतिपादित इस पुस्तक में है । जो समझने, अपनाने का प्रयत्न करेंगे, वे लाभान्वित होकर रहेंगे, ऐसा विश्वास है ।

कल्प साधना का उद्देश्य और स्वरूप

यह एक सुविदित तथ्य है कि संचित पापकर्मों का प्रतिफल रोग, शोक, विक्षोभ, हानि एवं विपत्ति आदि के रूप में उपस्थित होता है । विपत्तियों को भुगतने का मूल आधार मनुष्य का भ्रष्ट चिन्तन एवं दुष्ट आचरण ही होता है । पापकर्म के बीज सर्वप्रथम दुष्प्रवृत्ति बनकर अंकुर की तरह उगते हैं । उसके बाद वे पेड़–पौधे बनकर फलने–फूलने योग्य जब तक नहीं होते तब तक उनका स्वरूप पतन–पराभव के रूप में दृष्टिगोचर होने वाले दुराचरण जैसा होता है । कालान्तर में जब वे परिपुष्ट, परिपक्व हो जाते हैं तो आधि–व्याधि, विपत्ति, हानि, भर्त्सना के रूप में कष्ट देने लगते हैं । दुष्कर्मों के अवश्यसंभावि प्रतिफल से बचने का दैवी प्रकोप एवं सामाजिक प्रताड़ना के अतिरिक्त दूसरा मार्ग प्रायश्चित्त का है । इसका आश्रय लेकर मनुष्य आत्मशोधन और आत्म परिष्कार का दुहरा प्रयोजन एक साथ पुरा कर सकता है ।

प्रगति पथ पर चलने के लिए व्यक्ति को जो तप साधना करनी पड़ती है उसके स्वरूप दो ही हैं । पहला है–आंतरिक अवरोधों से पीछा छुड़ाया जाय और दूसरा है–आत्मबल पर आश्रित अनुकूलताओं को अर्जित किया जाय । यही है आत्मिक पुरुषार्थ का एक मात्र और वास्तविक स्वरूप । यात्री को एक पैर उठाना और दूसरा बढ़ाना पड़ता है । उठाने का तात्पर्य है–कुसंस्कारों को छोड़ा जाय, उसके लिए कठोर तप किया जाय । बढ़ाने का अर्थ है–सत्प्रवृत्तियों को स्वभाव एवं आचरण में घुला दिया जाय । कच्ची धातुयें अपनी सामान्य स्थिति में प्रयुक्त नहीं होतीं । उन्हें बहुमूल्य उपकरण के रूप में परिवर्तित करने के लिए प्रचण्ड ताप की भट्टी द्वारा गलाई–ढलाई करनी पड़ती है । गलाई को 'तप' और ढलाई को 'योग' कहते हैं । कल्प–साधना में तप और योग दोनों का समावेश है । इसकी समूची प्रक्रिया में पग–पग पर परिशोधन और परिष्कार के उभयपक्षीय तत्त्व पुरी तरह गुंथे हुए हैं ।

उपवास एवं सुसंस्कारी अन्न से काय शोधन होता है और मनःक्षेत्र में प्रज्ञा का आलोक बढ़ता है । शरीर कल्प के यही दो आधार हैं ।

आत्मिक कायाकल्प के लिए भी शरीर का तप तितिक्षा के आधार पर ही परिशोधन होता है । यह प्राथमिक अनिवार्यता मानी जानी चाहिए । उपवास पर आधारित आहार चिकित्सा को कायिक निरोगता का मूल आधार माना जा सकता है । पेट का भार हल्का रहने और सहकारी न्यूनतम आहार से गुण, कर्म, स्वभाव पर उपयोगी प्रभाव पड़ने का प्रत्यक्ष लाभ स्वास्थ्य सुधार के रूप में दृष्टिगोचर होता है । इसी प्रकार इन्द्रिय संयम, अर्थ-संयम और विचार संयम का अभ्यास करने से अवांछनीय दुष्प्रवृत्तियों से सहज ही छुटकारा मिल जाता है । अन्धकार हटना और प्रकाश बढ़ना एक ही बात है । कुसंस्कार घटेंगे तो आंतरिक प्रखरता स्वयमेव बढ़ेगी । इसके अतिरिक्त उन दिनों आंतरिक परिवर्तन हेतु जो भावनात्मक प्रयत्न होते हैं और योगाभ्यास सम्मत अतिरिक्त प्रयास भी चलते हैं, वह अभ्युदय-उत्कर्ष की सशक्त प्रक्रिया है ।

अन्न को वस्तुतः ब्रह्म एवं प्राण की उपमा दी गयी है । उपनिषद्कार ने अन्न ब्रह्म की उपासना करने के लिए साधकों को सहमत करने पर अनेकानेक तर्क, तथ्य एवं प्रमाण प्रस्तुत किये हैं । आमतौर से आहार द्वारा क्षुधानिवृत्ति एवं स्वाद तृप्ति भर की बात सोची जाती है । वास्तव में यह मान्यता सर्वथा अधूरी है । भोजन प्रकारान्तर से जीवन है । उसकी आराधना ठीक प्रकार की जा सके तो शरीर को आरोग्य, मस्तिष्क को ज्ञान-विज्ञान, अन्तःकरण को देवत्व के अनुदान, व्यक्तित्व को प्रतिभा तथा भविष्य को उज्ज्वल सम्भावनाओं से जाज्वल्यमान बनाया जा सकता है ।

मन को सात्विक बनाना आत्मोत्कर्ष की दृष्टि से नितान्त आवश्यक है । इसीलिए कहा गया है "जैसा खाये अन्न वैसा बने मन"। यहाँ अन्न से अर्थ है साधक का आहार । आहार शुद्धि साधना का प्रथम चरण है । तमोगुणी, उत्तेजक, अनीति उपार्जित, कुसंस्कारियों द्वारा पकाया-परोसा भोजन न केवल मनोविकार ही उत्पन्न करता है वरन् रक्त को अशुद्ध व पाचन को विकृत करके स्वास्थ्य संकट भी उत्पन्न करता है । आत्मिक प्रगति में, साधना की सफलता में तो कुधान्य का, अभक्ष्य का प्रभाव विषवत् पड़ता है । मन की चचलता इतनी अधिक हो जाती है कि सामान्य

कार्यों में भी एकाग्र हो पाना सम्भव नहीं हो पाता । फिर साधना में अभीष्ट मनोयोग तो आहार शुद्धि बिना कैसे प्राप्त हो ?

पिप्पलाद ऋषि पीपल वृक्ष के फल खाकर निर्वाह करते थे । कणाद ऋषि जंगली धान्य समेटकर उससे क्षुधा शांत करते थे । भीष्म पितामह शर शैया पर पड़े हुए धर्मोपदेश दे रहे थे, तब द्रोपदी ने पूछा–"देव, जब मुझे भरी सभा में नग्न किया जा रहा था तब आपने कौरवों को यह उपदेश क्यों नहीं दिये ?" वे बोले–"उन दिनों मेरे शरीर में कुधान्य से उत्पन्न रक्त बह रहा था, अस्तु बुद्धि भी वैसी ही थी । अब घावों के रास्ते वह रक्त निकल गया और मेरी स्थिति सही सोचने एवं सही परामर्श देने जैसी बन गई है ।" रुक्मिणी का जंगली बेर खाकर तथा पार्वती का सूखे पत्तों पर रहकर तप करना प्रसिद्ध है । उच्चस्तरीय साधनाओं में व्रत उपवास का अविच्छिन्न स्थान है । साधना में मन का सात्विक होना आवश्यक है । मन को शान्त, स्थिर एवं सात्विक बनाने के लिए उपवास पर, अन्न की सात्विकता पर ध्यान देना अति आवश्यक है ।

कल्प साधना वस्तुतः उपवास प्रधान है । इसका एक स्वरूप चान्द्रायण साधना के रूप में देखने को मिलता है । चान्द्रायण का सर्वविदित नियम–अनुशासन पूर्णिमा से अमावस्या तक भोजन घटाने और तदुपरांत क्रमशः बढ़ाते हुए अगली पूर्णिमा को नियत मात्रा तक ले पहुँचना है । इसमें मन का कठोर संयम जिस प्रकार सम्भव हो पाता है, वह अन्य साधनाओं में नहीं है । यह क्रम पुरातन काल के साधकों के मनोबल और उनकी शरीरगत सामर्थ्य को देखकर ठीक भी था, पर अब बदली परिस्थितियों में जहाँ मनुष्य की जीवनी शक्ति उतनी नहीं रही, पर्यावरण के परिवर्तन उसे जल्दी–जल्दी प्रभावित भी करते हैं, उतनी कठोर साधना सम्भव नहीं । फिर भी उपवास का महत्व जहाँ का तहाँ रहेगा । आरोग्य रक्षा की दृष्टि से भी अन्य श्रमिक–मजदूरों की तरह पेट को सप्ताह में एक बार छुट्टी मिलनी ही चाहिए । ऐसा न रहने पर उसकी कार्य क्षमता घटती है तथा शरीर में विजातीय द्रव्य एकत्र होते चले जाते हैं । पूर्ण उपवास न बन पड़े तो कम से कम यह सम्भव है कि कल्प की अवधि में आधे या कम आहार पर निर्वाह कर लिया

जाय । शाकाहार, फलाहार, अन्नाहार में से किसी एक का चयन कर उसे ही नियत मात्रा में नित्य लेते रहने का भी चन्द्रायण साधना में प्रावधान है । इसे एक प्रकार का मृदु चान्द्रायण कहा जा सकता है । भाँति–भाँति के सम्मिश्रणों से बचकर साधक यदि एक ही अन्न या शाक पर कल्प कर ले तो आहार शुद्धि, आन्तरिक कायाकल्प, आरोग्य प्राप्ति के सभी प्रयोजन पूरे होते हैं ।

आहार इन दिनों जो लिया जाय, वह सामान्य से आधा या और भी कम हो । सात्विक हो, सुपाच्य हो । इसके लिए भाप के माध्यम से पकाये गये अन्न को वैज्ञानिक, शास्त्रीय दोनों ही मतों से श्रेष्ठ कहा जा सकता है । चिकनाई–मसाले और शक्कर, नमक आदि का आदी मन तथा शरीर उस ढर्रे को सहज ही तोड़ नहीं पाता । पर धीरे–धीरे कल्पकाल के शोधित–स्वादहीन आहार में ही ऐसी रुचि विकसित होने लगती है, मानो साधक प्रत्यक्ष औषधि ही अपनी जीवनी शक्ति बढ़ाने के लिए ग्रहण कर रहे हैं । सन्तुलित आहार के नाम पर विविधताएँ जुटाना व्यर्थ हैं । हर उपर्युक्त खाद्य पदार्थ में वे सभी तत्व पाये जाते हैं जिनकी शरीर को आवश्यकता है । निर्धारित कल्प साधना में ही हविष्यान्न, अमृताशन, गेहूँ, ज्वार, बाजरा, मक्का, चावल आदि ऋषिधान्यों को अकेले अथवा शाकपत्तियों के साथ भाप के माध्यम से उबाल द्वारा पकाकर दिन में दो बार नियत से आधी मात्रा ग्रहण करने का प्रावधान है । इससे कम में वह मनोबल नहीं जुट पाता जो निष्कासन प्रक्रिया तथा नवीन निर्धारण–जीवन दृष्टि के विकास हेतु जरूरी है । आज की परिस्थितियों के अनुरूप यह साधना हर दृष्टि से साधक को आमूलचूल बदल देने वाली प्रक्रिया के लिए उसे समर्थ, शक्ति सम्पन्न बना देने वाली मानी जानी चाहिए ।

आहार साधना के अतिरिक्त तप–तितिक्षा में प्रायश्चित की चर्चा की जाती है । अपना अन्तःकरण धोये बिना, विगत को भुलाये बिना साधना मात्र बाह्योपचार भर रह जाती है । 'कल्प साधना' का अर्थ ही यह है कि अन्दर से बाहर तक साधक पूरी तरह बदल जाये । पुरानी केंचुली निकाल फेंके, नूतन चोला पहने । प्रायश्चित इसीलिए किया जाता है और

उसकी महत्ता को शास्त्रों ने इसी कारण अत्यधिक माना है, उस पर पूरा जोर दिया है ।

प्रायश्चित में तीन पक्ष हैं—एक—व्रत उपवास जैसी तितिक्षा, दूसरा—संचित कुसंस्कारों को उखाड़ने और उस स्थान पर उच्चस्तरीय शालीनता को स्थापित करने का अन्तर्मुखी पुरुषार्थ, तीसरा—खोदी हुई खाई को पाटने वाली क्षति पूर्ति के लिए पुण्य पुरुषार्थ का उदार साहस । इन तीनों के संयुक्त समावेश से ही प्रायश्चित की पूर्ण प्रक्रिया सधती है । मात्र आहार करने भर से तो कल्प प्रक्रिया का एक छोटा भाग ही सधता है ।

इस साधना को एक प्रकार के आयुर्वेदीय कायाकल्प उपचार के समान समूचे व्यक्तित्व का संशोधन—सम्वर्धन करने वाली प्रक्रिया कह सकते हैं । इतने पर भी कल्प के भौतिक सिद्धांत दोनों में ही एक जैसे हैं । एकांत सेवन, आहार संयम तथा निर्धारित चिन्तन यही आधार कल्प साधना के भी हैं । रोगी अपने रोग का स्वरूप ही नहीं, इतिहास भी चिकित्सक को बताता है । उसी निदान के आधार पर उपचार की व्यवस्था बनती है । कल्प प्रक्रिया में मार्गदर्शक को अपने संचित पाप कर्मों का विस्तृत वर्णन, स्वभावगत दोष—दुर्गुणों का परिचय एवं भौतिक, आत्मिक अवरोधों का विवरण प्रस्तुत करना पड़ता है । इन दोनों पक्षों पर गम्भीर विचार करने के उपरान्त ही हर व्यक्ति को कुछ विशेष परामर्श दिये जाते हैं, उपाय—विचार बताये जाते हैं । कल्प साधना में सामान्य उपचार तो एक जैसे हैं किन्तु साथ ही हर साधक की स्थिति के अनुरूप उसे कुछ अतिरिक्त उपाय साधन भी बताये जाते हैं । इन निर्धारणों को कौतुक—कौतूहल एवं बेगार जैसी चिह्न पूजा नहीं बनाया जाता, लकीर पीटने भर की आधी—अधूरी, लँगड़ी—लूली प्रक्रिया अपनाने से इतना बड़ा प्रयोजन पूरा नहीं होता । उसमें गम्भीर होना पड़ता है और निर्धारित अनुशासन का कठोरतापूर्वक परिपालन करना पड़ता है ।

यह कल्प साधना घर के व्यस्त—अभ्यस्त वातावरण में नहीं हो सकती । उपवासपूर्वक अनुष्ठान तो आये दिन होते रहते हैं । अन्तः के कायाकल्प की साधना उससे आगे की चीज है, इसके लिए तद्नुरूप तीर्थ

जैसा पवित्र वातावरण, उपयुक्त साधन एवं ऋषि कल्प मार्गदर्शन चाहिए । यह आवश्यकता शांतिकुञ्ज गायत्री नगर में अच्छी तरह सम्पन्न हो सकती है वैसी सुविधा कहीं अन्यत्र मिल सकना कठिन है । पूर्ण कल्प साधना एक महीने की होती है और लघु 'शिशु' साधना दस दिन की । दोनों में समय का ही अन्तर है । विधान, अनुशासन दोनों में एक जैसे हैं । सबसे महत्व की बात यह है कि शरीरगत अनुबन्धों की निर्धारित दिनचर्या अपनाये रहने के अतिरिक्त मानसिक स्थिति भी बनानी पड़ती है, मानो किसी अन्य लोक में उन दिनों रहा जा रहा है । इन दिनों सांसारिक चिन्तन एक प्रकार से विस्मृत ही कर देना चाहिए और मात्र अध्यात्म लोक की आवश्यकताओं तथा अन्तःक्षेत्र की समस्याओं का हल करने में ही चित्त को पूरी तरह केन्द्रित रखना चाहिए । भौतिक जीवन की समस्याएँ इतनी विकट होती हैं कि उन्हें सुलझाने वाले साधन जुटाने में प्रायः समूची जीवन अवधि खप जाती है । फिर आत्मिक जीवन तो और भी व्यापक एवं महत्वपूर्ण है । उसकी गुत्थियाँ सुलझाने और प्रगति के सरंजाम जुटाने हेतु नये सिरे से नये दृष्टिकोण तथा नया साहस जुटाना होता है । इतने बड़े काम के लिए निर्धारित साधना का स्वरूप यही है कि उसमें से भौतिक चिन्तन एवं प्रयोजनों में भी प्रयास के लिए तनिक भी कोशिश नहीं की जाय तथा मनोयोग को निर्धारित प्रयोजनों में जुटाये रखा जाय । मन को अन्य किसी कार्य में अस्त-व्यस्त नहीं करना चाहिए ।

इस प्रकार चान्द्रायण साधना को 'व्रत', 'तप' एवं 'कल्प' के नाम से भी जाना जाता है । 'व्रत' अर्थात् संयम, अनुशासन, निर्धारण एवं परिपालन । 'तप' अर्थात् संचित कुसंस्कारों से संघर्ष और शालीनता के अवधारण का अभ्यास-पुरुषार्थ । 'कल्प' अर्थात् पिछली हेय स्थिति को उलट कर उस स्थान पर उत्कृष्टता का प्रतिष्ठापन । यह तीनों ही प्रयास परस्पर मिलते हैं तो ज्ञान और कर्म की गंगा-यमुना मिलने से एक नई धारा भक्ति भावना की, दिव्य जीवन की सरस्वती के रूप में उद्‌भूत होती है । इस समन्वय से त्रिवेणी संगम बनता है । उसका अवगाहन करने वाले इस धरती पर स्वर्ग का आनन्द लेते हैं, जीवनमुक्त बनते हैं और मनुष्य रूप में

देवता कहलाते हैं । इसी परम लक्ष्य की पूर्ति करना आन्तरिक काया कल्प साधना का आधारभूत उद्देश्य है ।

संक्षेप में कल्प साधना के तीन पक्ष हैं–संयम–साधना, प्रज्ञा–उपासना, भविष्य निर्धारण की आराधना । संयम साधना में उपवास प्रमुख है । इस अवधि में आहार सामान्य की तुलना में आधा ही लिया जाता है । जो खाया जाए वह पूर्ण सात्विक एवं सुसंस्कारी हो, इसका ध्यान रखा जाता है । संयम को ही तप कहते हैं । सामान्य जीवन में यह तप चार प्रकार का अपनाया जाता है । (१) इन्द्रिय संयम के लिए ब्रह्मचर्य, मौन, अस्वाद आदि की तितिक्षा, (२) अर्थ संयम के लिए मितव्ययता । परिश्रमशीलता अपनाकर सादा जीवन उच्च विचार का अभ्यास, औसत भारतीय स्तर के निर्वाह का अभ्यास, (३) समय संयम–एक घड़ी भी आलस्य प्रमाद में बर्बाद न होने देना । दिनचर्या बनाकर उसके परिपालन में तत्परता बरतना, (४) विचार चिन्तन को अस्त–व्यस्त उड़ानें भरने से रोकना, सौंपे हुए काम में ही मनोयोग नियोजित रखना । चान्द्रायण में यह चारो ही संयम साधनाएँ तपश्चर्या के रूप में निर्धारित करनी होती हैं । तपस्वी सच्चे अर्थों में सामर्थ्यवान् बनता है । उसकी ऊर्जा से प्रखरता, परिपक्वता बढ़ती है । तपस्वी ही शरीरगत ओजस्, तेजस् एवं अन्तःकरण के वर्चस् से सुसम्पन्न बनते हैं । इसी आत्मबल के सहारे ऋद्धि–सिद्धियों का द्वार खुलता है । प्रज्ञा उपवास में गायत्री पुरश्चरण मुख्य है । ढाई घण्टा नित्य का समय इसके लिए नियत है । इसी बीच निर्धारित जप संख्या पूरी की जाए । साथ ही प्रभात कालीन सूर्य किरणों के तीनों शरीर में प्रवेश करने का ध्यान किया जाए । अनुभव किया जाए कि गायत्री के प्राण सविता देवता का दिव्य आलोक जीवन सत्ता के कण–कण में प्रवेश करके तीन अनुदान प्रदान करता है–स्थूल शरीर में सद्‌कर्म, सूक्ष्म शरीर में सद्‌ज्ञान, कारण शरीर में सद्‌भाव । इन्हीं तीनों को क्रमशः निष्ठा, प्रज्ञा और श्रद्धा भी कहते हैं । कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग के अन्तर्गत इन्हीं दिव्य अनुदानों का विवेचन किया जाता है और तृप्ति, तुष्टि, शांति की त्रिविध विभूतियों के सहारे देवोपम जीवन जी सकने का लाभ समझाया जाता है । जिनको यह दिव्य सम्पदा जितनी

मात्रा में उपलब्ध होती है, वह उसी अनुपात में आत्म सन्तोष, जन सहयोग एवं दैवी अनुग्रह का प्रतिफल हाथों-हाथ प्राप्त करता है । ऋतम्भरा प्रज्ञा ही गायत्री है । प्रज्ञा-अर्थात् दूरदर्शी विवेकशीलता, यही है मनुष्य का आराध्य । इस दिशा में होने वाली प्रगति से इसी जीवन में स्वर्ग और मुक्ति के रसास्वादन का लाभ मिलता है ।

भविष्य निर्धारण की आराधना के निमित्त इस अवधि में स्वाध्याय, सत्संग और अन्तर्मुखी चिन्तन मनन के चार प्रयोजनों में निरत रहना पड़ता है । नित्यकर्म उपासना के अतिरिक्त जो भी समय खाली मिले उसमें उन्हीं चार प्रयोजनों में मन को लगाये रहना पड़ता है । इन चारों का लक्ष्य एक ही है-परिष्कार एवं उज्ज्वल भविष्य का योजनाबद्ध निर्धारण । इसके लिए आत्म निरीक्षण, आत्म सुधार, आत्म निर्माण एवं आत्म विकास के चार प्रसंगों पर गम्भीरतापूर्वक समुद्र मंथन जैसा आत्म चिन्तन करते रहना होता है ताकि ईश्वर प्रदत्त अलभ्य उपहार-मनुष्य जन्म का सही उपयोग सम्भव हो सके । इसके लिए शरीर निर्वाह एवं परिवार पोषण की तरह ही परमार्थ प्रयोजनों को महत्त्व देना होता है । आत्म कल्याण और लोक मंगल की समन्वित जीवनचर्या का निर्धारण एवं सतत् अभ्यास ही आराधना है ।

परमात्मा को आदर्शों का समुच्चय मानकर उसके साथ तादात्म्य होना उपासना है । जीवन को अधिकाधिक पवित्र एवं प्रखर बनाने वाली सुसंस्कारिता का अवधारण साधना है । लोक मंगल को परमार्थ और उनके सहारे अपनी सत्प्रवृत्तियों का सम्वर्धन ही आराधना है । उपासना परमात्मा की, साधना अन्तरात्मा की और आराधना विश्वात्मा की की जाती है । कल्प काल में बहिर्मुखी माया प्रपंच से अवकाश प्राप्त किया जाता है और उस अवधि में अन्तर्मुखी रह कर अन्तर्जगत का पर्यवेक्षण किया जाता है । इस दिशा में परिवर्तन के लिए नियोजित आत्म साधना जितनी भावपूर्ण एवं गम्भीर होगी, उतना ही इस कल्प साधना का प्रत्यक्ष वरदान उपलब्ध होगा ।

साधना से सफलता के दो अनिवार्य अवलम्बन

साधना से कायाकल्प के विस्तार में जाने से पूर्व साधना से सिद्धि के सिद्धांत को भली-भाँति हृदयंगम करना होगा । शास्त्रकारों, आप्त पुरुषों, मनीषियों, तपस्वी-साधकों ने एक स्वर में इस तथ्य को माना है कि मानवी सत्ता में दैवी विभूतियों का अजस्र भण्डागार छिपा पड़ा है, उसे जगाने के लिए साधनापरक पुरुषार्थ किया जा सके तो अविज्ञात प्रसुप्त को प्रत्यक्ष होने का अवसर मिल सकता है । इससे अनभिज्ञ मानव अनपढ़-आदिम का सा जीवन जीता किसी तरह अपने दिन पूरे करता रहता है ।

अप्रत्यक्ष के प्रकटीकरण के लक्ष्य को ध्यान में रखकर किये गये प्रयासों को 'साधना' कहते हैं । इसके दो प्रयोजन हैं । एक अन्तराल की प्रसुप्त विभूतियों का जागरण, दूसरा अनन्त ब्रह्माण्ड में संव्याप्त ब्राह्मी चेतना का अनुग्रह-अवतरण । जागरण हुए बिना अनुग्रह मिल सकना सम्भव नहीं । सूखी चट्टान पर पानी कहाँ बरसता है ? दोनों ही प्रयोजन देखने में भिन्न प्रतीत होते हैं परन्तु हैं अविच्छिन्न, एक दूसरे के पूरक । बीज में वृक्ष बनने की समर्थता सन्निहित है, पर वह अनायास ही प्रकट नहीं होती, उसके लिए उपयुक्त भूमि में बीजों को बोना, उसके लिए खाद पानी का प्रबन्ध करना पड़ता है । इतना बन पड़ने पर ही अंकुर उत्पन्न होता है । यह आत्म-जागरण का प्रयास हुआ । बीज जमीन से खुराक खींचने लगता है, यह उसका अपना पुरुषार्थ है । आत्म साधना इसी को कहते हैं कि बीज अंकुरित हो, जड़ पकड़े, जमीन से खुराक खींचे और पत्तों के माध्यम से हवा से साँस खींचने लगे ।

ब्राह्मी-चेतना का अनुग्रह है बाहरी सहायता उपलब्ध करना । पौधा हवा से साँस खींचता है । यह हवा उसकी अपनी कमाई नहीं पहले से ही मौजूद है । पत्तों के साँस लेने में सक्षम होते ही वह अभीष्ट मात्रा में मिलने लगती है । सभी जानते हैं कि पेड़ों की चुम्बकीय शक्ति बादलों को बरसने के लिए बाध्य करती है । हरे भरे, फूले-फले वृक्ष को देखकर, उसे जी भर कर निहारने, छाया, सुगन्ध, शोभा का, फल-फूलों का लाभ लेने के लिए कीट-पतंग, पशु-पक्षी, मनुष्य सभी उसके समीप दौड़ते हैं ।

यह बाहरी अनुग्रह हुआ । पौधे की तरह जब आत्म-सत्ता अन्तःसाधना से अपनी प्रसुप्त गरिमा को प्रकट करती है तो लोक-लोकान्तर से दिव्य वरदान भी बादलों की तरह बरसने लगते हैं । सत्प्रवृत्तियों के देवता प्रसन्न होकर आकाश से फूल बरसाते हैं । इस मान्यता में इसी रहस्य का उद्घाटन है कि साधना के फलस्वरूप भीतर के उभार और ऊपर के अनुग्रह का दुहरा लाभ मिलता है ।

देवता पूजा से प्रसन्न होकर मनोकामनाएँ पूर्ण करने और वैभव बरसाने लगते हैं-इस भ्रम जंजाल से यथार्थ प्रेमी को अपना पीछा छुड़ा लेना चाहिए । दैवी शक्तियाँ इतनी ओछी नहीं हैं कि मनुष्य उन्हें वाग्जाल में फँसा सके और छुट-पुट पूजा उपचारों से अपने भक्त होने का विश्वास दिला सके । जादू की छड़ी घुमाने से उत्पन्न होने वाले चमत्कारों की तरह जो तरह-तरह भ्रम जंजाल बुनते रहते हैं, उन्हें निराश ही रहना पड़ता है । कोई देवता कबूतर की तरह जाल में नहीं फँसता । कोई देवी मछली की तरह आटे की गोली नहीं निगलती, कोई मंत्र आलादीन का जादुई चिराग नहीं है । अध्यात्म-विज्ञान का एक ही मान्यता प्राप्त सिद्धांत है-साधना से सिद्धि । जिनने कुछ महत्वपूर्ण पाया है, उनने इसी तथ्य को हृदयंगम किया है और पात्रता विकसित करने वाले साधनात्मक पुरुषार्थ के सहारे अपनी समर्थता को बढ़ाया है ।

साधनात्मक प्रयोग उपचार क्रिया-कृत्य आरम्भ करने के साथ-साथ सर्वप्रथम एक समस्या का समाधान करना होता है कि प्रगति पथ के अवरोधों को कैसे हटाया जाय ? अवरुद्ध-द्वार कैसे खोला जाय ? आत्मिक प्रगति में सिद्धियों की उपलब्धि में सबसे प्रमुख बाधक अपने कुसंस्कार ही होते हैं । दृश्यमान दुष्कर्म अपना बिस्तर समेटकर अदृश्य संस्कारों का रूप बनकर अचेत की गहरी परतों में जा घुसते हैं और वहीं से अनेक प्रकार के संकटों का सृजन करते रहते हैं । आग जहाँ रखी जाती है वहीं जलाना आरम्भ कर देती है । तेजाब का स्वभाव ही गलाना है, वह जहाँ भी रखा जायगा, सामर्थ्यानुसार अपने प्रभाव का परिचय देता रहेगा । अन्तःक्षेत्र में प्रतिष्ठित दुर्बुद्धि और दुष्प्रवृत्ति का समन्वय कुसंस्कार है । यही है जो न साधना को सिद्ध होने देता है और न उस

निमित्त श्रद्धा जमने, मन लगने तथा गम्भीर प्रयत्न करने देता है । उथले प्रयत्नों का गहरा प्रतिफल कैसे मिले ? कुसंस्कार ही हैं जो यमदूत की तरह पग-पग पर त्रास देते हैं । व्यक्तित्व को हेय बनाते हैं । रुग्णता एवं उद्विग्नता के अभिशाप थोपते हैं । सम्पर्क क्षेत्र में असहयोग, विग्रह, विद्वेष का वातावरण बनाते हैं । सर्वविदित है कि दुर्गुणी भीतर से जलता और बाहर से पिटता है ।

नरक लोक में यमदूतों द्वारा दिये जाने वाले त्रासों का वर्णन कथा-पुराणों में सुनने को मिलता रहता है । कषाय-कल्मषों से आच्छादित अन्तःकरण ही नरक है । अपने ही दुर्गुण दूसरों के साथ दुर्व्यवहार करते हैं, अपनी ही दुर्बुद्धि अचिन्त्य चिंतन में निरत रहकर कुमार्ग पर धकेलती है । दुष्प्रवृत्तियाँ ही उलटकर विपत्तियों की तरह बरसती हैं । यमदूत और कुछ नहीं अपने ही कुसंस्कारों द्वारा उत्पन्न किए गये भूत-प्रेत हैं जो क्रिया की प्रतिक्रिया का परिचय देते हैं और अनाचारी को तोड़-मरोड़कर रख देते हैं । नरक और यमत्रास मनुष्य की आत्म सत्ता में ही सृष्टा ने सुनियोजित रीति से गूँथ दिये हैं ।

साधना की प्रगति में सर्वप्रथम साधक को इसी मोर्चे पर जूझना पड़ता है । साधना को संग्राम कहा गया है । यही अर्जुन का महाभारत है । इसे लड़े बिना कोई चारा नहीं, कृष्ण का आग्रह इसी निमित्त था । जब वह तैयार हो गया तो वह रथ चलाने, घोड़े हाँकने, रास्ता बताने और विजय दिलाने के लिए वचनबद्ध हो गए । साधना यहीं से आरम्भ होती है । साधक को अन्तराल के धर्म क्षेत्र में और व्यवहार के कर्म क्षेत्र में उच्च उद्देश्यों के लिए अग्रगामी होना पड़ता है । गाण्डीव उठाने और 'करिष्ये वचन तव' का संकल्प करने के उपरान्त ही सामान्य-सा पाण्डुपुत्र भगवान का अनन्य सहचर महान अर्जुन बनता है । यही है साधना से सिद्धि की पृष्ठभूमि ।

भीतरी प्रगति और बाहरी उपलब्धि के लिए साधना मार्ग पर अग्रसर होना होता है । यह मंजिल अपने ही पैरों चलकर पूरी करनी पड़ती है । मार्ग में सहायक सहयोगी भी मिलते हैं और लक्ष्य तक पहुँचने पर अभीष्ट उपहार भी उपलब्ध होते हैं किन्तु ऐसा नहीं होता कि अपने पैरों को कष्ट

देने से बचा लिया जाय और किसी दूसरे के कन्धे पर बैठकर यह यात्रा पूरी कर ली जाय । दैवी शक्तियों के वरदान-अनुदान प्राप्त होने की परम्परा तो है, पर वह लाभ विजेताओं को मिलता है । छात्रवृत्ति या उपाधि उत्तीर्ण छात्रों को मिलती है । शिक्षा आरम्भ करने से पूर्व ही यह दोनों अनुदान हस्तगत हो सके हों-ऐसा देखा, सुना नहीं गया । साधना का साहस करने से पूर्व सिद्ध पुरुषों के अनुदान आशीर्वाद अथवा देवसत्ताओं के सिद्धि वरदान मिलने लगें, ऐसी अपेक्षा करना व्यर्थ है ।

आत्मिक प्रगति पर चलने के लिए भी इसी प्रकार दो कदम उठाते हुए बढ़ना होता है जैसा कि आये दिन सभी चला करते हैं । पैर दो हैं । चलने वाले इन्हीं को लेफ्ट-राइट करते हुए आगे बढ़ाते हैं । अध्यात्म तक पहुँचने के लिए जो कदम बढ़ाने पड़ते हैं-उनमें से एक का नाम है-परिशोधन, दूसरे का नाम-परिष्कार । परिशोधन अर्थात् संचित कषाय-कल्मषों का, कुसंस्कारों का, दुष्कर्मों के प्रारब्ध संचय का निराकरण । परिष्कार अर्थात् श्रेष्ठता का जागरण, अभिवर्धन, सुसंस्कारिता का जीवनचर्या में अधिकाधिक समावेश । यह दो उपक्रम ही वे दो कदम हैं जिन्हें बढ़ाते हुए आत्मिक क्षेत्र की सफलता सम्भव होती है ।

यही राजमार्ग सबके लिए है । इसमें पगडण्डी वाला 'शार्टकट' ढूँढ़ना व्यर्थ है । चुटकी बजाते जो ऋद्धि-सिद्धियों की बात सोचते हैं, कुछ ओछे-तिरछे उपचारों के सहारे भौतिक सफलताओं की तुलना में असंख्य गुनी अधिक महत्त्वपूर्ण आत्मिक सफलता का सपना देखते हैं-वे यथार्थ से कोसों दूर हैं । मनमोदक खाने वाले, स्वप्नदर्शी व्यर्थ ही मृग-तृष्णाओं में भटकते रहते हैं । बड़ी उपलब्धियों का बड़ा मूल्य चुकाना पड़ता है । हर साधक को सिद्धावस्था तक पहुँचने के लिए आत्म-शोधन और आत्म-परिष्कार के अवलम्बन अनिवार्य रूप से अपनाने होते हैं ।

परिशोधन को तपश्चर्या कहते हैं और परिष्कार को योग-साधना । तप की गर्मी से कुसंस्कार जलते हैं और प्रसुप्त सुसंस्कार जगते-उभरते हैं । योग से परब्रह्म के साथ एकात्म स्थापित करने का अवसर मिलता है । बल्ब तब प्रकाशवान होता है, जब तारों के माध्यम से वह बिजली के उत्पादन केन्द्र के साथ सम्बन्ध जोड़ता है । परमात्मा बिजली घर है और आत्मा

बल्ब । तार मिलने पर ही करेण्ट चालू होता है, आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ने से ही साधक को दिव्य चेतना का, विभूतियाँ बढ़ने का प्रमाण–परिचय मिलने लगता है । योग अर्थात् आत्मा को परमात्मा से जोड़ने वाली भावनात्मक प्रक्रिया । तप अर्थात् संचित कुसंस्कारों, दुष्कर्मों का दहन–प्रायश्चित । तप अर्थात् ऊर्जा का उद्‌भव जिसके सहारे सत्प्रयोजन का पराक्रम जगे और उत्कृष्टता अवधारण का साहस उभरे ।

कपड़ा रंगने से पहले उसे भली प्रकार धोना पड़ता है । बीज बोने से पूर्व भूमि तैयार करनी होती है । कारतूस चलाने का समय आता है, जब अच्छी बन्दूक हाथ लग जाती है । पूजा से पूर्व स्नान करने, धुले वस्त्र पहनने, बुहारी लगाने की आवश्यकता होती है । भोजन करने से पूर्व हाथ धोते हैं । इन्जेक्शन लगाने से पूर्व सुई को गरम पानी में उबालते हैं । इन उदाहरणों में परिशोधन की प्राथमिकता है । यही बात आत्मिक प्रगति के सम्बन्ध में भी है । ईश्वरीय अनुग्रह प्राप्त करने से पूर्व उस दिव्य आवरण के लिए अन्तःकरण को बुहारने, धोने, लीपने–पोतने की आवश्यकता पड़ती है । अवतरण बाद में होता है । दिवाली आने से पूर्व ही लक्ष्मी पूजन के लिए घरों की रँगाई–पुताई होती है । दूल्हा बारात लेकर आये, उससे पूर्व भी ऐसी ही सफाई सजावट होती है । दैवी अनुकम्पा जीवन में उतरे, इससे पूर्व उसे भी कुसंस्कारों से मुक्त करना पड़ता है । तपश्चर्या की प्राथमिकता है । योग साधना का कदम इससे आगे का है । राजयोग में यम–नियम पालने की मनोभूमि बनने पर ध्यान, धारणा के अगले कदम उठते हैं ।

उपासना का समुचित प्रतिफल प्राप्त करने के लिए आवश्यक है आत्मशोधन की प्रक्रिया पूर्ण की जाय । यह प्रक्रिया प्रायश्चित विधान से ही पूर्ण होती है । हठयोग में शरीर–शोधन के लिए नेति, धोति, वस्ति, न्यौली, वज्रोली, कपालभाति क्रियायें करने का विधान है । राजयोग में यह शोधन कार्य यम–नियमों के रूप में करना पड़ता है । भोजन बनाने से पूर्व चौका, चूल्हा, बर्तन आदि की सफाई कर ली जाती है । आत्मिक प्रगति के लिए भी आवश्यक है कि अपनी गतिविधियों का परिमार्जन किया जाय । गुण, कर्म, स्वभाव को सुधारा जाय और पिछले जमा हुए कूड़े–करकट का

ढेर उठाकर साफ किया जाय। आयुर्वेद के काया-कल्प विधान में स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन आदि कृत्यों द्वारा पहले मल शोधन किया जाता है तब उपचार आरंभ होता है। आत्म-साधना के सम्बन्ध में भी आत्म-शोधन की प्रक्रिया काम में लाई जाती है।

परिशोधन प्रयोजन के लिए तपश्चर्याओं के अनेकानेक विधि-विधान हैं। उन सब में सर्वसुलभ एवं अनेक दृष्टियों से सत्परिणाम उत्पन्न करने वाली साधना आध्यात्मिक काया-कल्प की काया-कल्प चिकित्सा में शरीर में भरे हुए मल-विकारों की पूरी तरह सफाई की जाती है तथा ऐसे उपचार अपनाये जाते हैं जिससे नये रक्त का नाड़ियों में संचार होने लगे, पाचन तंत्र नई स्फूर्ति के साथ काम करने लगे, माँसपेशियाँ फिर से कड़ी हो जायँ और नाड़ियों में प्राण-प्रवाह नयी चेतना के साथ बह निकले। चान्द्रायण तपश्चर्या को भी इसी स्तर का माना गया है। उसका मुख्य प्रयोजन परिशोधन होते हुए भी लगे हाथों परिष्कार का दुहरा सिलसिला भी चल पड़ता है।

आन्तरिक परिशोधन हेतु प्रायश्चित प्रक्रिया की अनिवार्यता

अध्यात्म साधना में अपने आपे को ईश्वर के रंग में रंगना होता है । तभी दोनों का वर्ण एक जैसा बनता है । इसके लिए सर्वप्रथम धुलाई करनी पड़ती है । कपड़े को बिना धोये रंगा जाय तो काम न चलेगा । वह तेल कीचड़ में डूबा हो तो रंगने के लिए लिए किया गया परिश्रम भी व्यर्थ चला जायगा । रंगाई को साधना और धुलाई को प्रायश्चित कहते हैं ।

मैले कुचैले गन्दे कपड़े जिन्हें किसी का मन देखने, छूने, पहनने को नहीं करता, उन्हें शुद्ध, आकर्षक और पहनने योग्य स्थिति में बदल देना धोबी का काम है । हेय स्थिति को श्रेय में बदल देने का चमत्कार धोबी का हाथ ही कर दिखाता है । यह कार्य प्रायश्चित प्रक्रिया का है, वह मनुष्यों की गिरी–गन्दी जीवन स्थिति का काया–कल्प जैसा परिवर्तन करती है और देखते–देखते उच्च भूमिका में पहुँचा देती है ।

धोबी कपड़े को गरम पानी में डालता है, उसका मैल फुलाता है, साबुन से गन्दगी को काटता है, पीटता है, धोता है, सुखाता है । इसके बाद कलफ लगाकर इस्त्री कर देता है । इतने क्रिया कलाप में होकर गुजर जाने पर गन्दा, पुराना, मैला कपड़ा नये से भी अधिक आकर्षक बन जाता है । प्रायश्चित्त में ठीक यही सब करना होता है ।

अपनी गुण, कर्म, स्वभाव की मलीनताओं को समझना, इस जीवन में किये हुए पापों को स्मरण करना, उनके लिए दुःखी होना और यह सब छोड़ने के लिए प्रबल तड़पन का उत्पन्न होना–यही गरम पानी में कपड़े को डालना है ।

दबे हुए, छिपे हुए मैल को फुलाकर स्पष्ट कर देना । अपनी जो बुराईयाँ, पाप–कृतियाँ छिपाकर रखी थीं उन्हें प्रकट कर देना । मन में दुराव की कोई गाँठ न रखना, भीतर बाहर से एक सा हो जाना–यह मैल का फुलाना है । आज की स्थिति में सर्वसाधारण के सम्मुख अपने दुश्चरित्र प्रकट कर सकने का साहस न होता हो तो कम से कम एक शोधक मार्गदर्शक के सम्मुख तो सब कुछ कह ही देना चाहिए । पाप का प्रकटीकरण पाप को हलका करता है और चित्त पर से भारीपन का बोझ उतारता है ।

साबुन लगाना भावी जीवन की रीति–नीति निर्धारण करना है । प्रायश्चित की सार्थकता तभी है जब पिछली गतिविधियों को बदलकर श्रेष्ठता के पथ पर चलने का निश्चय हो । यह निश्चय ही साबुन है । स्थूल साबुन ऐसा व्यक्ति हो सकता है, जिसे इस योग्य समझा जाय, जिसके सामने पाप प्रकट किए जायँ और जिनके परामर्श से प्रायश्चित्त विधान का निश्चय किया जाय ।

लकड़ी से पिटाई, पानी में धुलाई प्रायश्चित की तपश्चर्या है जिसे पिछली भूलों के दण्डस्वरूप स्वेच्छापूर्वक किया जाता है । शरीरिक और मानसिक सुविधाओं से कुछ समय के लिए अपने को वंचित कर देना, यही तप कहलाता है । किस कर्म के लिए, किस स्थिति के व्यक्ति को क्या तपश्चर्या करनी चाहिए, यह विषय बहुत ही सूक्ष्म है । इसका निर्णय किसी तत्वज्ञानी से ही कराना चाहिए । भिन्न–भिन्न स्थिति के व्यक्तियों के लिए ही दुष्कर्म की गरिमा भारी हल्की होती है, दण्ड के लिए भी शारीरिक मानसिक स्थिति का ध्यान रखना पड़ता है । यह निर्णय स्वयं नहीं करना चाहिए वरन् किसी तत्वज्ञानी से ही कराना चाहिए ।

कलफ करना, इस्त्री करना यह है कि जो क्षति समाज को पहुँचायी है उसकी पूर्ति के लिए दान, त्याग जैसा कार्य या अपनी जैसी स्थिति हो उसके अनुसार पुण्य परमार्थ के कार्य किये जायँ । इससे उस ऋण से मुक्ति मिलती है जो अनीति द्वारा अपहरण करके अपने सिर पर एकत्रित किया था, जो कभी न कभी ब्याज समेत चुकाना ही पड़ता है । अच्छा यही है कि उसे ईमानदारी और स्वेच्छापूर्वक इसी जन्म में चुका दिया जाय । कलफ लगाना यही है ।

लोहा करने का अर्थ है–भावी जीवन की रीति–नीति का व्यवस्थापूर्वक निर्धारण । इसमें सोचने का ढंग, दृष्टिकोण बदलना और कार्य पद्धति का हेर–फेर यह दोनों ही बातें सम्मिलित हैं । शरीर की क्रियायें बदलें, मन न बदले तो भी काम नहीं चलेगा और मन बदल जाय, शरीर वही हेय कर्म करता रहे तो भी वह बिडम्बना ही है । दोनों की परिवर्तित स्थिति भावी जीवन की रीति–नीति निर्धारित करती है और जिस पर चलने का सुदृढ़ निश्चय किया जाता है, उसी की सार्थकता है । प्रायश्चित्त का आरम्भिक जीवन शोधन की तड़प से आरम्भ होता है मध्य

में शोधनात्मक क्रिया से कृत्य करना पड़ता है और अन्त में भावी जीवन की रीति–नीति निर्धारित करने के रूप में उसकी पूर्णाहुति करनी पड़ती है । सर्वांगीण प्रायश्चित्त की यही समग्र प्रक्रिया है ।

दुष्कर्मों से अपने अन्तःकरण को, विचार संस्थान को तथा कार्यक्रमों को जिस प्रकार दुष्प्रवृत्तियों से भर दिया गया था, उसी साहस और प्रयास के साथ इन तीनों संस्थानों के परिमार्जन, परिशोधन एवं परिष्कार की प्रक्रिया को प्रायश्चित कहा गया है । पाप कर्मों से समाज को क्षति पहुँचती है । सामान्य मर्यादा प्रवाह में व्यवधान उत्पन्न होता है, लोक परम्परायें नष्ट होती हैं, अनेक को कुमार्ग पर चलने के लिए अनुकरण का उत्साह मिलता है । उन्हें क्षति पहुँचती है, वे विलाप करते हैं और उससे वातावरण विक्षुब्ध होकर सार्वजनिक सुख शांति के लिए संकट उत्पन्न होता है । ऐसे–ऐसे अनेक कारण हैं जिन्हें देखते हुए समझा जा सकता है कि जिसे पापकर्म द्वारा क्षति पहुँचाई गई, अकेले उसी की हानि नहीं हुई, प्रकारान्तर से सारे समाज को क्षति पहुँची है । विराट् ब्रह्म को, विश्व मानव को ही परमात्मा कहा गया है । अतः यह एक प्रकार से सीधा परमात्मा पर आक्रमण करना, उसे आघात पहुँचाना और रुष्ट करना हुआ । अपराध भले ही व्यक्ति या समाज के प्रति किये गये हों, उनका आघात सीधे ईश्वर के शरीर पर पड़ता है और उसे तिलमिलाने वाले कभी सुखी नहीं रहते ।

अवांछनीयताओं का तत्काल परिशोधन होता रहे, गन्दगी जमा न होने पाये–यह उचित है । देर तक जमा रहने के उपरान्त गन्दगी की सड़न अधिकाधिक बढ़ती जाती है । शरीर में जमा हुआ विजातीय द्रव्य जितने अधिक समय तक ठहरेगा, उसी अनुपात से विष बढ़ता जायेगा और सामान्य रोगों की अपेक्षा उससे असाध्य बीमारियाँ उपजेंगी । पुराना कर्जा ब्याज समेत कई गुना हो जाता है । मनोमालिन्य बहुत समय तक टिका रहे तो वह द्वेष–प्रतिशोध का रूप धारण कर लेता है । संचित पाप कर्मों के सम्बन्ध में भी यही बात है । उनका प्रतिफल भुगतने में जितनी देर होगी, उतनी ही प्रतिक्रिया भयंकर होगी । नया अपच जुलाब की एक गोली से साफ हो जाता है किन्तु यदि कई दिन तक मल रुका रहे तो उसकी पत्थर जैसी कठोर गाँठें बनकर ऐसे भयंकर उदर शूल का कारण बनती हैं, जिसके लिए

पेट फाड़कर गाँठें निकालने के अतिरिक्त और कोई चारा ही शेष नहीं रह जाता । गन्दगी को जितनी जल्दी हटाया जा सके उतना ही उत्तम है ।

इस जन्म के विदित और विस्मृत पापों से लेकर जन्म–जन्मान्तरों तक के पापों का निराकरण आवश्यक है । उन्हें निकालना और निरस्त करना अत्यन्त अनिवार्य कार्य है । विष खा जाने की गलती का परिमार्जन इसी प्रकार हो सकता है कि पेट और आँतों की धुलाई करके वमन–विरेचन द्वारा उसे जल्दी से जल्दी बाहर किया जाय । प्राण–संकट उसी से टल सकता है । प्रायश्चित ही परिशोधन का एक मात्र उपाय है ।

साधना विज्ञान में शारीरिक मानसिक मलीनताओं के निष्कासन पर जोर दिया गया है । आयुर्वेद में विकारग्रस्त शरीरों के मलशोधन की प्रक्रिया के उपरान्त चिकित्सा का समुचित प्रतिफल मिलने की बात कही गई है । हठयोगी नेति, धोति, वस्ति, न्यौली, कपालभाति आदि क्रियाओं द्वारा मलशोधन करते हैं । आयुर्वेद में वमन, विरेचन, स्वेदन, स्नेहन, नस्य आदि शोधन कर्मों से संचित मलों का निष्कासन किया जाता है । प्राकृतिक चिकित्सा में यही कार्य उपवास और एनीमा के द्वारा किया जाता है । राजयोग में यम–नियमों का विधान है । कुण्डलिनी योग में नाड़ी–शोधन की अनिवार्यता है । यों उसका बाह्य विधान प्राणायामों की विशेष प्रक्रिया पर आधारित है, पर उसका मूल उद्देश्य शारीरिक और मानसिक क्षेत्र में घुसी हुई विकृतियों का निराकरण ही है ।

लोहे को काटने के लिए लोहा, विष को मारने के लिए विष, काँटे को निकालने के लिए काँटा प्रयुक्त करना पड़ता है । दुष्कर्मों के संचय को सत्कर्मों से निरस्त किया जाता है । आग में गरम करने से धातुओं की शुद्धि होती है । रसायन बनाने के लिए अग्नि–संस्कार की विधि प्रयुक्त होती है । तपाने में ईंटों से लेकर मृतिका पात्र तक मजबूत होते हैं । पानी गरम करने से शक्तिशाली भाप बनती है । तपश्चर्या की आग में संचित दुष्कर्मों और कुसंस्कारों का परिशोधन होता है । स्वेच्छापूर्वक दण्ड स्वीकार करने की शालीनता अपना लेने में पकड़े जाने पर दण्ड पाने की अपेक्षा मनुष्य की अधिक बुद्धिमानी है । इससे खोई हुई प्रतिष्ठा को फिर से पाया जा सकता है । भूल को स्वीकार करने और सुधारने वाले

व्यक्ति दया के पात्र समझे जाते हैं । उलट पड़ने से सुधार होता भी द्रुतगति से है । वाल्मीकि, अशोक, अंगुलिमाल, अजामिल, बिल्वमंगल आदि जब उलट गये तो उनका कुकर्मों में प्रयुक्त होने वाला दुःसाहस सत्साहस में बदल गया और वे ध्वंस की अपेक्षा सृजन की भूमिका सम्पन्न करने लगे । प्रायश्चित इसी स्तर का प्रयोग है ।

प्रायश्चित विधानों के अगणित उल्लेख कथा पुराणों में भरे पड़े हैं । शंख और लिखित दो भाई थे । एक ने दूसरे के बगीचे से बिना पूछे फल खा लिये । यह चोरी हुई । उनने राजा के पास जाकर आग्रहपूर्वक दण्ड व्यवस्था कराई और उसे भुगता । बिल्वमंगल ने कुदृष्टि रखने वाली आँखों को ही नष्ट कर लिया, इस पर वे सूरदास बने । सती ने शिवजी का आदेश नहीं माना और वे बिना बुलाए पितृ–गृह चली गईं । भूल समझ में आने पर उनने आत्मदाह कर लिया । धृतराष्ट्र और गान्धारी ने अपनी यह भूल स्वीकार की कि उनने अपने पुत्रों को अनीति से रोकने में आवश्यक कड़ाई नहीं बरती और महाभारत का विनाश उत्पन्न हो गया । दोनों ने प्रायश्चित करने की ठानी और वे मरण पर्यन्त वनवास में रहकर तपश्चर्या करते रहे । कुन्ती ने भी अपनी भूलें स्वीकार कीं और वे भी धृतराष्ट्र, गान्धारी की सेवा करने के लिए उन्हीं के साथ वन गईं । भूलें मात्र कौरवों की ही नहीं थीं, उसमें जुआ खेलने और पत्नी को दाँव पर लगाने जैसे अनेक दोष पाण्डवों के भी थे । अस्तु कुन्ती को भी हिमालय में शीत से गलकर प्राण त्यागने का प्रायश्चित विधान अपनाना पड़ा ।

भीष्म शरशैया पर पड़े थे । उन्होंने मृत्यु टाल दिया और उसी कष्टकर स्थिति को देर तक सहन करते रहे ताकि अनीति समर्थन के पाप का प्रायश्चित सम्भव हो सके । बाल्मीकि पहले डाकू थे पीछे ईश्वर भक्ति के मार्ग पर चले । इस परिवर्तन बेला में उनने पापों का प्रायश्चित करने के लिए तप साधना को आवश्यक समझा । वर्णन है कि वे अविचल साधना में बैठ गए । उनके शरीर पर दीमक ने घर बना लिया । ब्रह्माजी ने आकर दीमक छुड़ाई और पाप मुक्ति का वरदान दिया । इसी घटना के आधार पर उनका नाम बाल्मीकि पड़ा । बाल्मीकि संस्कृत में दीमक को कहते हैं ।

ऐसी ही कथा सुकन्या की है । उसने महर्षि च्यवन के तप संलग्न शरीर पर जमी हुई मिट्टी को मात्र टीला समझा और उसमें चमकती आँखों को कोई अद्‌भुत वस्तु समझने के कारण आँख वाले छेदों में लकड़ी डाली तो आँखें फूट गयीं और रक्त बहने लगा । सुकन्या को जब इस अनर्थ का पता लगा कि उसकी भूल से कितनी बड़ी दुर्घटना हो गयी, इसका अनुमान लगाया तो निश्चय किया कि वह ऋषि की सेवा आजीवन करेगी और अपनी आँखों का ही नहीं, पूरे शरीर का लाभ उन्हें देगी । आग्रहपूर्वक सुकन्या च्यवन ऋषि की पत्नी बनी और उसके इस प्रायश्चित तप से न केवल च्यवन ऋषि को आरोग्य प्राप्त हुआ वरन् सुकन्या का यश भी अमर हो गया ।

अंगुलिमाल ने चोरी, डाके से मुख मोड़कर बुद्ध की शरणागति प्राप्त की । साथ ही प्रायश्चित रूप दुष्कृत्यों से कमाया धन धर्म प्रचार के लिए समर्पित कर दिया । आम्रपाली भी इसी राह पर चली, भक्ति मार्ग पर चलने के निश्चय के साथ ही उसने न केवल वेश्यावृत्ति छोड़ी वरन् उस आधार पर कमाई हुई विपुल सम्पदा भी बौद्ध बिहारों के लिए दान कर दी । ऐसा ही प्रसंग पिंगला वेश्या का है । उसने भी भक्तिमार्ग अपनाने के साथ–साथ जीवन परिवर्तन की वास्तविकता सिद्ध करने के रूप में प्रायश्चित किया था और अपना उपार्जन सत्कर्म में लगाया था । सम्राट् अशोक ने भी यही किया था । उन्हें चण्ड कहा जाता था । चण्ड अर्थात् क्रोधी । जब मुड़े, बदले तो उन्होंने साधु की तरह निर्वाह रीति अपनाई और अपनी समस्त राज्य सम्पदा बौद्ध धर्म के प्रचार कार्य में लगा दी । कुमारिल भट्ट ने प्रायश्चित स्वरूप ही अपने शरीर को अग्नि धूम्र में नष्ट किया था ।

इतने कठोर प्रायश्चित तो इन दिनों नहीं बन सकते । फिर बने भी तो आत्म त्रास की वैसी उपयोगिता अब नहीं मानी जाती जैसी कि पूर्वकाल में मानी जाती थी । कल्प साधना में जहाँ पापों के प्रायश्चित की प्रखरता है, वहाँ आरोग्य लाभ, स्वास्थ्य–सन्तुलन, दृष्टिकोण का परिवर्तन, भविष्य निर्धारण एवं आत्मिक प्रगति का पथ प्रशस्त होने जैसे अनेक अतिरिक्त लाभ भी हैं । इसलिए उच्चस्तरीय साधना मार्ग पर चलने वालों को इस कठोर परन्तु फलदायी साधना के लिए परामर्श दिया जाता है ।

कर्मफल की सुनिश्चितता : एक महत्वपूर्ण तथ्य

कर्मफल अथवा कर्म–परिपाक से कालान्तर में मिलने वाले परिणाम एक ऐसी सच्चाई का रहस्योद्घाटन करते हैं, जिसे इच्छा या अनिच्छा से सबको स्वीकार करना होगा । यह मानकर चलना चाहिए कि समूची सृष्टि एक सुनियोजित व्यवस्था की श्रृंखला में जकड़ी हुई है । अनुशासन के उल्लंघन की किसी को भी विशेषाधिकार के नाते छूट नहीं । क्रिया की प्रतिक्रिया का नियम हरेक पर, स्थान–स्थान पर लागू होता है और उसकी परिणति का दर्शन पग–पग पर होता है ।

भूतकाल के कृत्यों के आधार पर ही वर्तमान बनता है और वर्तमान का जैसा भी स्वरूप है, उसके अनुरूप भविष्य बनता चला जाता है । जो विद्या किशोरावस्था में कमाई जाती है एवं स्वास्थ्य सम्पदा जवानी में अर्जित होती है, वह बाद में बलिष्ठता एवं सम्पन्नता के रूप में सामने आती है । यौवन का सदुपयोग–दुरुपयोग बुढ़ापे के जल्दी या देर में आने, देर तक जीने या जल्दी मृत्यु की गोद में चले जाने के रूप में परिणत होता है । वृद्धावस्था की मनःस्थिति संस्कार बनकर मरणोत्तर जीवन में साथ जाती है और पुनर्जन्म के रूप में अपनी परिणति प्रकट करती है ।

यही प्रक्रिया संसार की समस्त गतिविधियों में दृष्टिगोचर होती है, जीवन के हर क्षेत्र में अपने प्रभाव का परिचय देती है । आज की परिस्थितियों के सम्बन्ध में पिछले आलस्य या उत्साह को श्रेय दिया जा सकता है । सत्कर्म एवं दुष्कर्मों के सम्बन्ध में भी यही बात है । वे देर सबेर में अपनी परिणति प्रस्तुत किये बिना रहते ही नहीं । वर्तमान का जैसा भी स्वरूप है उसमें कृत्य की ही प्रधान भूमिका रहती है ।

कुछ कर्म तत्काल फल देते हैं, कुछ की परिणति में विलम्ब लगता है । व्यायामशाला, पाठशाला, उद्योगशाला के साथ सम्बन्ध जोड़ने के सत्परिणाम सर्वविदित हैं, पर वे उसी दिन नहीं मिल जाते, जिस दिन प्रयास आरम्भ किया जाता है । कुछ काम अवश्य ऐसे होते हैं जो हाथों हाथ फल देते है । मदिरा पीते ही नशा आता है । जहर खाते ही मृत्यु होती है । गाली देते ही घूँसा तनता है । दिनभर परिश्रम करने पर ही शाम को

मजूरी मिलती है। टिकिट खरीदते ही सिनेमा का मनोरंजन चल पड़ता है। ऐसे भी अनेक काम हैं, पर सभी ऐसे नहीं होते। कुछ काम निश्चय ही ऐसे होते हैं जो देर लगा देते हैं। असंयमी लोग जवानी में खोखले बनते रहते हैं। उस समय कुछ पता नहीं चलता किन्तु दस बीस वर्ष भी बीतने नहीं पाते कि काया की जर्जरता अनेक रोगों से घिर जाती है।

समय साध्य परिणितियों को देखकर अनेक को कर्मफल पर अविश्वास होने लगता है। वे सोचते हैं कि आज का प्रतिफल हाथों हाथ नहीं मिला तो वह कदाचित् भविष्य में भी कभी नहीं मिलेगा। अच्छे काम करने वाले प्रायः इसी कारण निराश होते और बुरे काम करने वाले अधिकांश निर्भय–निरंकुश बनते हैं। तत्काल फल न मिलने की व्यवस्था भगवान ने मनुष्य की दूरदर्शिता, विवेकशीलता को जाँचने के लिए ही बनाई है। अन्यथा वह ऐसा भी कर सकता था कि झूँठ बोलते ही मुँह में छाले भर जायें। चोरी करने वाले के हाथ में दर्द होने लगे। व्यभिचारी तत्काल नपुंसक बन जाय। यदि ऐसा रहा होता तो आग में हाथ डालने से बचने की तरह लोग पाप कर्मों से भी बचे रहते और दीपक जलाते ही रोशनी की तरह पुण्य फल का हाथों–हाथ चमत्कार देखते। पर ईश्वर को क्या कहा जाय, उसकी भी तो अपनी मर्जी और व्यवस्था है। सम्भवतः मनुष्य की दूरदर्शिता विकसित करने एवं परखने के लिए ही इतनी गुंजायश रखी है कि वह सत्कर्मों और दुष्कर्मों का प्रतिफल विलम्ब से मिलने पर भी अपनी समझदारी के आधार पर भविष्य को ध्यान में रखते हुए आज की गतिविधियों को अनुपयुक्तता से बचायें और सत्साहस को अपनाने में जो अवरोध आते हैं, उन्हें भी धैर्यपूर्वक सहन करें। वस्तुतः कर्म फलित होने में देर लगती है। हथेली पर सरसों उगाई जा सकती है, बोने से दस दिन में ही जिनके अंकुर छः इन्च ऊँचे उग आते हैं। किन्तु जिनका जीवन लम्बा है, जो चिरस्थाई हैं, उनके बढ़ने और प्रौढ़ होने में देर लगती है। नारियल की गुठली बो देने पर भी एक वर्ष में अंकुर फोड़ती है और वर्षों में धीरे–धीरे बढ़ती है। बरगद का वृक्ष भी देर लगाता है, जबकि अरण्ड का पेड़ कुछ ही महीनों में बढ़ने और फल देने लगता है। हाथी जैसे दीर्घजीवी पशु, गिद्ध जैसे पक्षी, ह्वेल जैसे जलचर

अपना बचपन बहुत दिन में पूरा करते हैं, जबकि खरगोश जैसे छोटे प्राणी एक वर्ष में ही बच्चे पैदा करने लगते हैं । मक्खी, मच्छरों का बचपन और यौवन बहुत ही जल्दी आता है, पर वे मरते भी उतनी ही जल्दी हैं । शारीरिक और मानसिक परिश्रम का, आहार-विहार का, व्यवहार-शिष्टाचार का प्रतिफल हाथों हाथ मिलता रहता है । उसकी उपलब्धियाँ सामयिक होती हैं, चिरस्थायी नहीं । स्थायित्व नैतिक कृत्यों में होता है, उनके साथ भाव संवेदनाएँ और आस्थाएँ जुड़ी होती हैं । जड़ें अन्तरंग की गहराई में धँसी रहती हैं इसलिए उनके भले या बुरे प्रतिफल भी देर में मिलते हैं और लम्बी अवधि तक ठहरते हैं । इन कर्मों के फलित होने में प्रायः जन्म-जन्मांतरों जितना समय लग जाता है ।

अन्तःकरण की संरचना दैवी तत्वों से हुई है । उसमें स्नेह, सौजन्य, सद्भाव, सच्चाई जैसी सत्प्रवृत्तियाँ ही भरी पड़ी हैं । जीवन-यापन की रीति-नीति उत्कृष्टता के आधार पर बनाने की प्रेरणा इस क्षेत्र से अनायास ही मिलती रहती है ।

इस क्षेत्र में जब निकृष्टता प्रवेश करती है तो सहज ही उसकी प्रतिक्रिया होती है । रक्त में जब बाहरी विजातीय तत्व प्रवेश करते हैं तो श्वेत कण उन्हें मार भगाने में प्राण-पण से संघर्ष छेड़ते हैं और परास्त करने में कुछ उठा नहीं रखते । ठीक इसी प्रकार अन्तःकरण की दैवी चेतना भी आसुरी दुष्प्रवृत्तियों को जीव-सत्ता में प्रवेश करने और जड़ जमाने की छूट नहीं देना चाहती । फलतः दोनों के बीच संघर्ष छिड़ जाता है । यही अन्तर्द्वन्द्व है जिसके बने रहते आंतरिक जीवन अशांत ही बना रहता है और उस विक्षोभ की अनेक दुःखदायी प्रतिक्रियाएँ फूट-फूटकर बाहर आती रहती हैं ।

दो साँड़ लड़ते हैं तो लड़ाई की जगह को तहस-नहस करके रख देते हैं । खेत में लड़ें तो समझना चाहिए कि उतनी फसल चौपट ही हो गई । दुष्प्रवृत्तियाँ जब भी, जहाँ भी अवसर पाती हैं वहीं घुसपैठ करने, जड़ जमाने में चूकती नहीं । घुन की तरह मनुष्य को खोखला करती हैं और चिन्गारी की तरह चुपचाप सुलगती हुई अन्त में सर्वनाशी ज्वाला बनकर प्रकट होती हैं । ठीक इसी प्रकार दुष्प्रवृत्तियाँ आत्म-सत्ता पर

आधिपत्य जमाने के लिए कुचक्र रचती रहती है । किन्तु अन्तरात्मा को यह स्थिति सह्य नहीं । अस्तु वह विरोध पर अड़ी ही रहती है । फलतः संघर्ष चलता ही रहता है और उसके दुष्परिणाम अनेकानेक शोक संतापों के रूप में सामने आते रहते हैं ।

मनोवैज्ञानिक इस स्थिति को 'दो व्यक्तित्व' कहते हैं । एक ही शरीर में दो भले-बुरे शांति, सहयोगपूर्वक रह नहीं सकते । कुत्ते-बिल्ली की, साँप-नेवले की दोस्ती कैसे निभे ? एक म्यान में दो तलवारें ठूँसने पर म्यान फटेगी ही । शरीर में ज्वर या भूत घुस पड़े तो दुर्दशा होती है इसे सभी जानते हैं । नशेबाजों की दयनीय स्थिति देखते ही बनती है । यह परस्पर विरोधी शक्तियों का एक स्थान पर जमा होना ही है जिसमें विग्रह की स्वाभाविकता टाली नहीं जा सकती ।

आत्मा को कितना ही कुचला जाय, वह न मरने वाली है और न हार मानती है । अनसुनी, उपेक्षित पड़ी रहने पर भी अन्तरात्मा की विरोधी आवाज उठती ही रहती है । दुष्कर्म करते समय जी धड़कता और पैर काँपते हैं । यह स्थिति कितनी ही दुर्बल क्यों न कर दी जाय उसका अस्तित्व बना ही रहेगा और झंझट तब तक चलता ही रहेगा, जब तक दुष्प्रवृत्तियाँ उस घुसपैठ से अपना पैर वापिस न लौटा लें ।

अन्तर्द्वन्द्व जीवन की शक्ति और सुव्यवस्था को नष्ट करते हैं, प्रगति पथ अवरुद्ध करते हैं और भविष्य को अन्धकारमय बनाते हैं । पापों की परिणति से किसी भी बहाने बचा नहीं जा सकता । यह शारीरिक संविधान की सामान्य प्रक्रिया पद्धति हुई । इसके अतिरिक्त समाजगत, प्रकृतिगत एवं ईश्वरीय व्यवस्था के और भी ऐसे कितने ही आधार हैं जिनके कारण कुमार्गगामी को अपने दुष्कृत्यों के दण्ड अनेक प्रकार भुगतने के लिए विवश होना पड़ता है ।

राजदण्ड की व्यवस्था इसीलिए है कि दुष्कर्मों की आवश्यक रोकथाम की जा सके और अनीति बरतने वालों को उनकी करतूतों का मजा चखाया जा सके । पुलिस, कचहरी, जेल, फाँसी आदि की शासकीय दण्ड व्यवस्था का अस्तित्व मौजूद है । चतुरता बरतने पर भी लोग उसकी पकड़ में आ जाते हैं और आर्थिक, शारीरिक और

मानसिक दण्ड भुगतते हैं, बदनामी सहते और नागरिक अधिकारों से वंचित होते हैं ।

इतने पर भी पीछा नहीं छूटता । शारीरिक 'व्याधि' और मानसिक 'आधि' उन्हें घेरती हैं और तिल-तिल करके रेतने-काटने जैसा कष्ट देती हैं । शरीर पर मन का अधिकार है । अचेतन मन के नियंत्रण में आकुंचन-प्रकुंचन, निमेष-उन्मेष, श्वास-प्रश्वास, रक्तसंचार, ग्रहण-विसर्जन आदि अनेक स्वसंचालित समझी जाने वाली गतिविधियाँ चलती हैं । चेतन मन की शक्ति से ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ काम करती हैं । प्राण निकलते ही शरीर सड़ने और नष्ट होने लगता है । चेतना का केन्द्र संस्थान मस्तिष्क है । मन के रूप में ही हम चेतना का अस्तित्व देखते एवं क्रिया-कलाप का अनुभव करते हैं । यह संस्थान-मनोविकारों से, पाप, ताप एवं कषाय-कल्मषों से विकृत होता है तो उसका प्रभाव शारीरिक आरोग्य पर पड़ता है और मानसिक संतुलन पर भी । नवीनतम वैज्ञानिक शोधों का निष्कर्ष यह है कि बीमारियों का केन्द्र पेट या रक्त में न होकर मस्तिष्क में रहता है । मन गड़बड़ाता है तो शरीर का ढाँचा लड़खड़ाने लगता है । बीमारियों की नई शोध होती है और उनके लिए आये दिन एक से एक प्रभावशाली उपचार ढूँढ़े जाने की घोषणाएँ होती हैं । अस्पताल तेजी से बढ़ रहे हैं और चिकित्सकों की बाढ़ आ रही है । आधुनिकतम उपचार भी खोजे जा रहे हैं, इतने पर भी स्वास्थ्य समस्या का कोई उपयुक्त समाधान निकल नहीं रहा है । तात्कालिक चमत्कार की तरह दवाएँ अपना जादू दिखाती तो हैं, पर दूसरे ही क्षण रोग बदलकर नई आकृति में फिर खड़े होते हैं । यह स्थिति तब तक बनी रहेगी जब तक कि मानसिक विकृतियों के फलस्वरूप नष्ट होने और अगणित रोग उत्पन्न होने के तथ्य को स्वीकार नहीं कर लिया जाता ।

न केवल शारीरिक वरन् मानसिक रोगों की भी इन दिनों बाढ़ आई हुई है । सिरदर्द, आधाशीशी, जुकाम, अनिद्रा, उन्माद, बेहोशी के दौरे आदि तो प्रत्यक्ष और प्रकट मस्तिष्कीय रोग हैं । चिन्ता, भय, निराशा, आशंका, आत्महीनता जैसे अवसाद और क्रोध, अधीरता, चंचलता, उद्दण्डता,

ईर्ष्या, द्वेष, आक्रमण जैसे आवेश मनःसंस्थान को ज्वार-भाटों की तरह असंतुलित बनाये रहते हैं । फलतः मानसिक क्षमता का अधिकांश भाग निरर्थक चला जाता है एवं अनर्थ बुनने में लगा रहता है । अपराधी दुष्प्रवृत्तियों से लेकर आत्म-हत्या तक की अगणित उत्तेजनाएँ विकृत मस्तिष्क के उपार्जन ही तो हैं । तरह-तरह की सनकों से कितने ही लोग सनकते रहते हैं और अपने तथा दूसरों के लिए संकट खड़े करते हैं । दुर्व्यसनों और बुरी आदतों से ग्रसित व्यक्ति अपना, साथियों का कितना अहित करते हैं, यह सर्वविदित है । पागलों की संख्या तो संसार में तेजी के साथ बढ़ ही रही है । मनोविकार ग्रसित, अर्धविक्षिप्त लोगों की गणना की जाय तो आधी जनसंख्या इसी चपेट में आई हुई दिखाई पड़ेगी । शारीरिक रोगों का विस्तार भी तेजी से हो रहा है । दुर्बलता और रुग्णता से सर्वथा अछूते व्यक्ति बहुत ही स्वल्प मात्रा में मिलेंगे । जिन्हें शारीरिक एवं मानसिक रोगों से सर्वथा मुक्त, पूर्ण निरोग कहा जा सके ऐसे लोगों को ढूँढ़ निकालना इन दिनों अतीव कठिन है ।

रंगाई से पूर्व धुलाई आवश्यक है । यदि कपड़ा मैला-कुचैला है तो रंग ठीक नहीं चढ़ेगा । इस प्रयास में परिणाम, समय और रंग सभी नष्ट होंगे । कपड़े को ठीक तरह धो लेने के उपरान्त उसकी रंगाई करने पर अभीष्ट उद्देश्य पूरा होता है । ठीक इसी प्रकार आध्यात्मिक प्रगति के लिए की गई साधना का समुचित प्रतिफल प्राप्त करने के लिए उन अवरोधों का समाधान किया जाना चाहिए जो दुष्कर्मों के फलस्वरूप आत्मोत्कर्ष के मार्ग में पग-पग पर कठिनाई उत्पन्न करते हैं । दीवार बीच में हो तो उसके पीछे खड़ा हुआ मित्र अति समीप रहने पर भी मिल नहीं पाता । कषाय-कल्मषों की दीवार ही हमें अपने इष्ट से मिलने में प्रधान अवरोध खड़ा करती है ।

आज की अपनी दुःखद परिस्थितियों के लिए भूतकाल की भूलों पर दृष्टिपात किया जा सकता है । इसी प्रकार सुखी समुन्नत होने के सम्बन्ध में भी पिछले प्रयासों को श्रेय दिया जा सकता है । इस पर्यवेक्षण से सीधा निष्कर्ष यही निकलता है कि अशुभ विगत को धैर्यपूर्वक सहन करें या फिर उसका प्रायश्चित करके परिशोधन की बात सोचें । शुभ पूर्व कृत्यों

पर संतोष अनुभव करें और उस सत्य प्रवृत्ति को आगे बढ़ायें । यह नीति निर्धारण की बात हुई । अब देखना यह है कि यदि आधि-व्याधियों के रूप में अशुभ कर्मों की काली छाया सिर पर घिर गई है तो उसके निवारण का कोई उपाय है क्या ?

जो कर्मफल पर विश्वास न भी करते हों उन्हें भी मानवी अन्तःकरण की संरचना पर ध्यान देना चाहिए और समझना चाहिए कि वहाँ किसी के साथ कोई पक्षपात नहीं । पूजा-प्रार्थना से भी दुष्कर्मों का प्रतिफल टलने वाला नहीं है । देव-दर्शन, तीर्थ स्नान आदि से इतना ही हो सकता है कि भावनाएँ बदलें, भविष्य के दुष्कृत्यों की रोकथाम बन पड़े, अधिक बिगड़ने वाले भविष्य की सम्भावना रुके । पर जो किया जा चुका, उसका प्रतिफल सामने आना ही है । उसके उपचारार्थ शास्त्रीय परम्परा और मनःसंस्थान की संरचना को देखते हुए इसी निष्कर्ष पर पहुँचना होता है कि खोदी हुई खाई को पाटा जाय । प्रायश्चित के लिए भी वैसा ही साहस जुटाया जाय जैसा कि दुष्कर्म करते समय मर्यादा उल्लंघन के लिए अपनाया गया था । यही एकमात्र उपचार है जिससे दुष्कर्मों की उन दुखद प्रतिक्रियाओं का समाधान हो सकता है जो शारीरिक रोगों, मानसिक विक्षोभों, विग्रहों, विपत्तियों, प्रतिकूलताओं के रूप में सामने उपस्थित होकर जीवन को दूभर बनाये दे रही हैं । यह विषाक्तता यदि लदी रही तो भविष्य के पूरी तरह अन्धकारमय होने की भी आशंका है । अस्तु प्रायश्चित को अपनाकर, सामाजिक दुःख-कष्ट भोगकर वर्तमान और भविष्य को सुखद बनाना ही दूरदर्शिता है । कर्मफल के इस अकाट्य तथ्य को दृष्टिगत रखकर ही कल्प साधना में साधकों के लिए प्रायश्चित्त की व्यवस्था की गई है ।

दुष्कृतों के अवरोधों को हटाने की साहसिकता उभरे

साधना क्षेत्र में इस भ्रांति को मिटा देना चाहिए कि संचित दुष्कर्मों को अपने ही स्थान पर छोड़कर आत्मिक प्रगति की जा सकती है । ऐसी उड़ान न तो सम्भव है और न विधि–विधान के अनुकूल ही । कक्षायें उत्तीर्ण करते हुए ही विद्यार्थी स्नातक की उपाधि पाते और अफसर बनते हैं । छलांगें भी कई क्षेत्रों में लगती हैं और लोग जीवट भरे काम करते सफल होते दिखाई देते हैं । परन्तु आत्मिक क्षेत्र में ऐसी सुविधा नहीं है । संचित दुष्कर्मों से विनिर्मित प्रारब्ध न केवल विपत्तियों, असफलताओं का त्रास देता है, वरन् उच्चस्तरीय प्रगति के पथ पर चलने में भी अनेक विघ्न उपस्थित करता है । रास्ते को रोके खड़ी इन चट्टानों को हटाने–सरकाने के लिए साहसपूर्ण पराक्रम अन्तः से उभरकर आता है और स्वयं को कष्ट देते हुए भी मन को शांत व काया को स्वस्थ बनाता है । यही है प्रायश्चित प्रक्रिया, जिसे कल्प साधना में प्रमुखता और वरीयता दी गई है ।

कर्मफल की सम्भावना सुनिश्चित है, उसे विश्व–व्यवस्था का एक अनिवार्य एवं अविच्छिन्न अंग ही समझा जाना चाहिए । इन संचयों को स्वयं ही भुगतना होता है । देव–दर्शन, नदी–स्नान, पुजा–उपचार, कथा–वार्ता एवं छुट–पुट कर्मकाण्डों का प्रयोजन इतना ही है कि उनसे परिशोधन–परिमार्जन की ओर ध्यान मुड़े, महत्व समझने का अवसर मिले और वह साहस उभरे जिससे कर्मफल भुगतने का दूसरा विकल्प–प्रायश्चित स्वेच्छापूर्वक बन पड़े । प्रायश्चित के लिए किये जाने वाले व्रत–उपचारों के सामयिक प्रतिफल भी होते हैं, किन्तु वास्तविक एवं चिरस्थायी लाभ देने वाला तथ्य यह है कि दुष्कृत्यों के प्रति घृणा उभरे, भविष्य में वैसा न करने का संकल्प मचले, साथ ही जो किया गया है उसकी क्षति–पूर्ति करने की सदाशयता की खाई पाटने के लिए उत्साह भरा साहस उत्पन्न करे ।

यह सारा संसार कर्म व्यवस्था के आधार पर चल रहा है । भगवान् ने दुनियाँ बनाई और उसके सुसंचालन के लिए कर्म–विधान रच दिया ।

जो जैसा करता है, वह वैसा भोगता है, सिद्धांत अकाट्य है । लोग भ्रम में इसलिए पड़ते हैं कि कई बार कर्मों का तत्काल फल नहीं मिलता । उसमें विलम्ब हो जाता है । यदि शुभ-अशुभ कर्मों का फल तत्काल मिल जाया करता तो दूरदर्शिता, विवेकशीलता की आवश्यकता ही न पड़ती । आग छूने से हाथ जल जाता है इस प्रत्यक्ष तथ्य के कारण कोई आग में हाथ डालने की मूर्खता नहीं करता । किन्तु सुकृत्यों और दुष्कृत्यों का परिणाम तत्काल नहीं मिलता । उसके परिपाक में देरी हो जाती है । इतने में ही बाल-बुद्धि के लोग अधीर हो जाते हैं । पुण्य के सम्बन्ध में निराशा और पाप के सम्बन्ध में निर्भय हो जाते हैं । जो करणीय है उसे छोड़ बैठते हैं और जो नहीं करना चाहिए उसे करने लगते हैं । यही है वह माया, जिसके बन्धन में जकड़े हुएं लोक दिग्भ्रान्त होते, भूल भुलैयों में उलझते तथा भटकावों में खिन्न, उद्विग्न बने दिखाई पड़ते हैं ।

आज का जमाया हुआ दूध कल दही बनता है, आज का बोया बीज बहुत समय में वृक्ष बनता है, आज का अध्ययन, व्यायाम आज ही कहाँ फल देता है ? परिणाम में देर लगने पर बालक निराश हो सकते हैं, पर विचारशील लोग अपनी निष्ठा विचलित नहीं होने देते और आशा, विश्वास के साथ काम करते रहते हैं । असंयम बरतने पर उसी दिन शरीर रुग्ण नहीं हो जाता । जिस दिन चोरी की जाय, उसी दिन जेल भुगतनी पड़े ऐसा कहाँ होता है ? तो भी समझदारी सुझाती है कि कल नहीं परसों, परिणाम मिलकर हीं रहेगा । पर लोग भ्रमग्रस्त होकर, कर्मफल के सम्बन्ध में विश्वास छोड़ बैठते हैं । इसी इन्कारी को वास्तविक नास्तिकता कहना चाहिए ।

दुष्कर्मों का प्रतिफल कई रूपों में भुगतना पड़ता है । लोक-निन्दा होती है । ऐसे व्यक्ति दूसरों की आँखों में अप्रामाणिक-अविश्वस्त ठहरते हैं । उन्हें किसी का सघन विश्वास एवं सच्चा सहयोग नहीं मिलता । श्रद्धा और सम्मान तो उसी को मिलता है, जिसकी प्रामाणिकता असंदिग्ध होती है । जन-विश्वास एवं सहयोग के आधार पर कोई व्यक्ति प्रगति करता और सफल होता है । संदिग्ध चरित्र वाले व्यक्तियों को इस लाभ से वंचित रहना पड़ता है और वे मित्र विहीन एकाकी-नीरस जीवन जीते

हैं । घनिष्ठता का लाभ तो उन्हें स्वजनों से भी नहीं मिलता । वे भी सदा आशंका की दृष्टि से देखते हैं और दिखावे का सहयोग दे पाते हैं । आत्म–प्रताड़ना का दुरूह दुख ऐसे ही लोगों को सहना पड़ता है । दूसरों को झुठलाया जा सकता है, पर अपनी ही आत्मा को कैसे बहकाया जाय ? वह दुष्कर्मों से स्वयं खिन्न रहती है । आत्म–धिक्कार से आत्मबल निरन्तर गिरता जाता है ।

समाज तिरस्कार, असहयोग, विरोध, उपेक्षा ये प्रत्यक्ष हानियाँ हैं । जिनके ऊपर घृणा और तिरस्कार बरसता है उसकी अन्तरात्मा को पत्थर बरसने से भी अधिक अन्तःपीड़ा सहनी पड़ती है । धन छिन जाना उतनी बड़ी हानि नहीं है जितना कि विश्वास, सम्मान और सहयोग चला जाना । दुष्कर्मों का यह सामाजिक दण्ड हर कुमार्गगामी को भुगतना पड़ता है । पाप और पारा छिपता नहीं । वह फूट–फूटकर देर–सबेर में बाहर निकलता ही है । सत्कर्म छिप सकते हैं, दुष्कर्म नहीं । हींग की गन्ध कई थैलियों में बन्द करके रखने पर भी फैलती है और दुष्कर्मों की गन्ध हवा में इस तरह उड़ती है कि किसी के छिपाये नहीं छिपती । समाज दण्ड असहयोग–बहिष्कार के रूप में तो बरसता ही है, कई बार वह प्रतिशोध और प्रत्याक्रमण के रूप में भी सामने आता है । लोग अनीति के विरुद्ध उबल पड़ते हैं तो दुरात्मा का कचूमर ही निकाल कर रख देते हैं । आये दिन ऐसी घटनाऐं घटती रहती हैं जिनमें अनीति करने वाले को प्रकारान्तर से दण्ड भुगतना ही पड़ा ।

न केवल अध्यात्म क्षेत्र में वरन् भौतिक जीवन में भी यही सिद्धांत काम करता है । रक्त विकार जैसे रोगों को दूर करने के लिए कुशल वैद्य पेट की सफाई करने के उपरान्त अन्य रक्त शोधक उपचार करते हैं । कायाकल्प चिकित्सा में बलवर्धक औषधियों का नहीं, संचित मलों का निष्कासन करने वाले उपायों को ही प्रधान रूप से कार्यान्वित किया जाता है । वमन, विरेचिन, स्वेदन आदि क्रियाओं द्वारा मल निष्कासन का ही प्रयास किया जाता है इसमें जितनी सफलता मिलती जाती है, उसी अनुपात से जरा जीर्ण, रोगग्रस्त व्यक्ति भी आरोग्य लाभ करता है और बलिष्ठ बनता चला जाता है । कायाकल्प चिकित्सा का विज्ञान इसी सिद्धांत पर आधारित है ।

दोष, दुर्गुणों के रहते चिरस्थाई प्रगति के पथ पर चल सकना किसी के लिए भी सम्भव नहीं हुआ है । फूटे बर्तन में दूध दुहने से पल्ले कुछ नहीं पड़ता, पशु पालने और दुहने का श्रम निरर्थक चला जाता है । कषाय–कल्मषों से, दोष–दुर्गुणों से लड़ने के लिए जो संघर्ष, पुरुषार्थ करना पड़ता है, उसी के विधि–विधानों को तप साधना कहते हैं । अपना शोधन जितना अधिक सम्भव हो सके, समझना चाहिए–कल्प साधना की तप प्रक्रिया में उतनी ही प्रगति पथ की यात्रा पूरी कर ली गई । इसके अभाव में कठोर अनुष्ठान भी अधूरे रह जाते हैं । असफलता के कारण, कर्मफल के न मिल पाने के कारण ऐसे व्यक्ति निराश होते हुए भी देखे जाते हैं, पर कालान्तर में शोधन पूरा होते ही उन्हें लक्ष्य की प्राप्ति अवश्य होती है । आयुर्वेद के प्रख्यात ग्रन्थ माधव निदान के प्रणेता माधवाचार्य अपने साधना काल में वृन्दावन में रहकर समग्र तन्मयता के साथ गायत्री महापुरश्चरणों में संलग्न थे । उन्होंने पूर्ण विधि–विधान के साथ लगातार ११ वर्षों तक अपनी साधना जारी रखी । इतने पर भी उन्हें सिद्धि का कोई लक्षण प्रकट होते दिखाई न पड़ा । इस असफलता से उन्हें निराशा भी हुई और खिन्नता भी । सो उसे आगे और चलाने का विचार छोड़कर काशी चले गये ।

काशी के गंगा तट पर वे बड़ी दुःखी मनःस्थिति में बैठे हुए थे कि उधर से एक अघोरी कापालिक आ निकला । साधक की वेशभूषा और छाई खिन्नता जानने के लिए वह रुक गया और कारण पूछने लगा । माधवाचार्य ने अपनी व्यथा कह सुनाई । कापालिक ने आश्वासन दिया कि उसे वैभव की सिद्धि का विधान आता है । एक वर्ष तक उसे नियमित रूप से करने पर सिद्धि निश्चित है । माधवाचार्य सहमत हो गये और कापालिक के बताये हुए विधान के साथ मणिकर्णिका घाट की श्मशान भूमि की परिधि में रहकर साधना करने लगे, बीच–बीच में कई डरावनी और लुभावनी परीक्षायें होती रहीं । उनका धैर्य और साहस सुदृढ़ बना रहा, एक वर्ष पुरा होते–होते भैरव प्रकट हुए और वरदान माँगने की बात कहने लगे ।

माधवाचार्य ने आँख खोलकर चारों ओर देखा पर बोलने वाला

कहीं दिखाई न पड़ा । उन्होंने कहा—'यहाँ आये दिन भूत-पलीत ऐसी ही छेड़खानी करने आया करते हैं और ऐसी ही चित्र-विचित्र वाणियाँ बोलते हैं । यदि आप सचमुच ही भैरव हैं तो सामने प्रकट हों । आपके दर्शन करके चित्त का समाधान कर लूँ तो वरदान माँगू ।' इसका उत्तर इतना ही मिला, "आप गायत्री के उपासक रहे हैं । आपके मुख मण्डल पर इतना ब्रह्म तेज छाया हुआ है कि सामने प्रकट होकर अपने को संकट में डालने की हिम्मत नहीं है । जो माँगना हो ऐसे ही माँग लो ।"

माधवाचार्य असमंजस में पड़ गये—'यदि गायत्री पुरश्चरणों से इतना ही ब्रह्मतेज उत्पन्न होता है तो उसकी कोई अनुभूति मुझे क्यों नहीं हुई ?' सिद्धि का आभास क्यों नहीं हुआ । यह प्रश्न बड़ा रहस्यमय था, जो भैरव के सम्वाद से ही उपजा था । उन्होंने समाधान भी उन्हीं से पूछा और कहा—'देव ! यदि आप प्रकट नहीं हो सकते और गायत्री उपासक को इतना तेजस्वी पाते हैं तो कृपा कर यह बता दें कि मेरी इतनी निष्ठा भरी उपासना निष्फल कैसे हो गई ? इतना समाधान करा देना भी आपका वरदान जैसा ही होगा । जब आप गायत्री तेज के सम्मुख होने तक का साहस नहीं कर सकते तो फिर आपसे अन्य वरदान क्या माँगू ।'

भैरव ने उनकी इच्छा पूर्ति की और पिछले ग्यारह जन्मों के दृश्य दिखाये जिनमें अनेक पाप कृत्यों का समावेश था । भैरव ने कहा—'आपके एक-एक जप गायत्री पुरश्चरण से एक-एक जन्म के पाप कर्मों का परिशोधन हुआ है । ग्यारह जन्मों के संचित पाप निर्मित प्रारब्धों के दुष्परिणाम इन ग्यारह वर्षों की तप साधना से नष्ट हुए हैं । अब आप नये सिरे से फिर उसी उपासना को करें । संचित प्रारब्ध की निवृत्ति हो जाने से आपको आगे के प्रयासों में सफलता मिलेगी ।'

माधवाचार्य फिर वृन्दावन लौट गये और बारहवाँ पुरश्चरण करने लगे । अब की बार उन्हें आरम्भ से ही साधना की सफलता के लक्षण प्रकट होने लगे और बारहवाँ वर्ष पूरा होने पर इष्टदेव का साक्षात्कार हुआ, उन्हीं के अनुग्रह से वह प्रज्ञा प्रकट हुई, जिसके सहारे माधव निदान जैसा महान ग्रन्थ लिखकर अपना यश अमर करने और असंख्यों

का हित साधन कर सकने की उपलब्धि मिली और जीवन का लक्ष्य पूरा कर सकने में सफल हुए ।

इस गाथा से इस तथ्य पर प्रकाश पड़ता है कि साधना की सिद्धि में प्रधान बाधा क्या है ? संचित दुष्कर्म ही उस मार्ग की सफलता में प्रधान रूप से बाधक होते हैं । यदि उनके निराकरण का उपाय सम्भव हो सके तो अभीष्ट सफलता सहज ही मिलती चली जायेगी ।

बाल विनोद की प्रारम्भिक साधनायें तो मात्र नित्य कर्म कहलाती हैं । उनमें देव प्रतिमाओं के पूजा उपचार को ही महत्त्व दिया जाता है और अनेक गुना अधिक माहात्म्य समझाया जाता है । उच्चस्तरीय साधनाओं का परिणाम भी असाधारण होता है । उसके लिए उचित मूल्य चुकाने वाली कठोर साधनाऐं अनिवार्य हैं । संचित अशुभ का निराकरण और शुभ, सुखद का शीघ्र परिपाक होने के दोनों ही उद्देश्य इन तप साधनाओं द्वारा सम्पन्न होते हैं । कल्प साधना जैसे उपक्रमों को अपनाते हुए साधक निश्चित ही प्रगति पथ पर अग्रसर होता है ।

पापों का प्रतिफल और प्रायश्चित– शास्त्र अभिमत

सत्कर्मों और दुष्कर्मों का प्रतिफल तत्काल न सही यों देर सबेर में अवश्य मिलता है । इस संदर्भ में किसी को भी भ्रम में नहीं रहना चाहिए कि जो किया गया है उसकी परिणति से बच कर रहा जा सकता है । राजदण्ड, समाज भर्त्सना से तो मनुष्य अपनी चतुरता के आधार पर बच भी सकता है, किन्तु ईश्वर के यहाँ ऐसी अन्धेरगर्दी तनिक भी नहीं है । आज नहीं तो कल कृत कर्मों की परिणति सामने आने ही वाली है । इसलिए शास्त्रानुशासन यही है कि दुष्कृत्यों का प्रायश्चित किया जाय और पुण्य–परमार्थ का अनुपात बढ़ाया जाय । यह दोनों ही प्रयोजन आध्यात्मिक कल्प–साधना से सिद्ध होते है ।

इस संदर्भ में शास्त्र अभिप्राय स्पष्ट है । नीतिकार कहते हैं कि संचित पापकर्म अनेकानेक संकटों को आमंत्रित करते हैं ।

आत्मापराधवृक्षस्य फलान्येतानि देहिनाम् ।
दारिद्रयदुःखरोगानि बन्धन व्यसनानि च ।। २ ।।

–चाणक्य

अर्थात् "मनुष्यों की अपने अपराध रूपी वृक्ष से दरिद्रता, रोग, दुःख, बन्धन और विपत्ति आदि फल मिलते हैं ।"

पापेन जायते व्याधिः पापेन जायते जरा ।
पापेन जायते दैन्यं दुःखं शोको भयंकरः ।।

पाप से व्याधि, वृद्धत्व, दीनता, दुःख और भयंकर शोक की प्राप्ति होती है ।

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणु मन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथा श्रुतम् ।।

अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार कितने ही देहधारी तो शरीर धारण करने के लिए किसी देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनि को प्राप्त होते हैं और कितने ही स्थावर भाव (वृक्षादियोनि) को प्राप्त होते हैं ।

आधियेणाधिमवः क्षीयन्ते व्याधयोऽप्यलम् ।
शुद्धया पुण्यया साधो क्रियया साधुसेवया ।।
मनः प्रयाति नैर्मल्यं निक्रषेणेव काञ्चनम् ।
आनन्दो वर्धते देहे शुद्धे चेतसि राघव ।।
सत्वशुद्धया वहन्त्येते क्रमेण प्राणवायवः ।
जरयन्ति तथान्नानि व्याधिस्तेन विनश्यति ।।

—योग वशिष्ठ

वशिष्ठ ने कहा—हे राघव ! पूर्व संचित दुष्कर्मों के क्षीण हो जाने पर आधि—व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं । श्रेष्ठ कार्यों से और सज्जनों की सेवा से मन उसी प्रकार निर्मल हो जाता है, जैसे कसौटी पर कसा गया सुवर्ण । मन के शुद्ध हो जाने पर आनन्द की प्राप्ति होती है । अन्तःकरण की शुद्धि से प्राण सशक्त होते हैं, जिससे अन्नों का पाचन समुचित रूप से होने लगता है परिणामस्वरूप व्याधियाँ विनष्ट हो जाती है ।

ब्रह्मघ्न नरकस्यान्ते पाण्डुः कुष्ठी प्रजायते
कुष्ठी गोवधकारी...........
बालघाती च पुरुषो मृतवत्सः प्रजायते ।
गर्भपातनजा रोगा यकृत्प्लीहा जलोदराः ।।
प्रतिमाभंगकारी च अप्रतिष्ठः प्रजायते ।
विद्यापुस्तकहारी च किल मूकः प्रजायते ।
औषधस्यापहरणे सूयावर्तः प्रजायते ।

—शातातपस्मृति

अर्थात् ब्रह्म हत्या करने वाला नरक भोगने के अन्त में श्वेत कुष्ठी, गौहत्यारा गलितकुष्ठी, बालकों की हत्या करने वाला मृत—संतान वाला, गर्भपात कराने वाला यकृत्, तिल्ली एवं जलोदर का रोगी, मूर्ति खण्डित करने वाला अप्रतिष्ठित, विद्या और पुस्तकें चुराने वाला गूंगा, औषधियों को चुराने वाला आधाशीशी का रोगी होता है ।

'तद् य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्योनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् ।'

—छांदोग्य ५—१०—७

'अच्छे आचरण वाले उत्तम योनि प्राप्त करते हैं और नीच कर्म करने वाले नीच योनियों में जन्मते हैं ।'

'पुण्यो पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन ।'

अर्थात् 'निश्चय ही यह जीव पुण्य कर्म से पुण्यशील होता है । पुण्य योनि में जन्म पाता है और पाप–कर्म से पापशील होता है, पाप योनि में जन्म ग्रहण करता है ।'

'साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति ।'

अर्थात् 'अच्छे कर्म करने वाला अच्छा होता है । सुखी एवं सदाचारी कुल में जन्म पाता है और पाप करने वाला पापात्मा होता है, पाप योनि में जन्म ग्रहण करके दुःख उठाता है ।'

ऐसा प्रतीत होता है कि दृष्टा ऋषिगण भूत, वर्तमान, भविष्य का भली भाँति विश्लेषण कर सकने में समर्थ थे । आरण्यकों में बार–बार यही पाठ पढ़ाये जाते थे तथा इन्हीं सूत्रों का मनन स्वाध्याय होता था ताकि व्यक्ति पाप–प्रतिफल भय से अनीति की ओर उन्मुख न हो । महाभारत ग्रन्थ में रचनाकार ने स्पष्ट कहा है–

जातिमृत्युजरादुःखैः सततं समभिद्रुतः ।
संसारे पच्यमानश्च दोषैरात्मकृतैर्नरः ।। ३ ।।

–महाभारत वनपर्व

"मनुष्य अपने ही किए हुए अपराधों के कारण जन्म–मृत्यु और जरा सम्बन्धी दुःखों से सदा पीड़ित हो बारम्बार संसार में पचता रहता है ।"

जन्तुस्तुकर्मभिस्तैस्तैः स्वकृतैः प्रेत्य दुःखितः ।
तद्दुखप्रतिघातार्थमपुण्यां योनिमाप्नुते ।। ३५ ।।

"प्रत्येक जीव अपने किए हुए कर्मों से ही मृत्यु के पश्चात् दुःख भोगता है और उस दुःख का भोग करने के लिए ही वह पाप योनि में जन्म लेता है ।"

मरणोत्तर जीवन लोक–परलोक सम्बन्धी ऐसी स्पष्ट व्याख्या किसी धर्मग्रन्थ में नहीं मिलती । यदि व्यक्ति मात्र इतना ही जान लें, इस सत्य को हृदयंगम कर लें तो न कहीं व्याधि रहे, न जरा । दुःख, शोक, भावनात्मक संक्षोभ सभी पापों की ही परिणति हैं जो रोगों का रूप लेती व प्रकट होती रहती हैं ।

जलोदरं यकृत प्लीहा शूलरोगव्रणानि च ।
स्वासाजीर्णज्वरच्छर्दिभ्रमोहनगलग्रहः ।।

रक्तार्बुद विसर्पाद्या उपपापोद्भवा गदाः ।
दण्डापतानकश्चित्रवपुः कम्पविषूचिकाः ॥
वाल्मीकपुण्डरीकाद्यां रोगाः पापसमुद्भवाः ।
अर्शआद्या नृणां रोगा अतिपापाद्भवन्ति हि ॥

—शातातप स्मृति

जलोदर, तिल्ली, यकृत, शूल, व्रण, श्वास, अजीर्ण, ज्वर, जुकाम, भ्रम, मोह, जलग्रह, रक्तार्बुद, विसर्प आदि रोग उप पातकों के कारण होते हैं ।

दण्ड पतानक, चित्रवपु, कम्प, विशूचिका, पुण्डरीक आदि रोग सामान्य पापों के कारण होते हैं ।

पूर्वजन्म कृतं पापं नरकस्य परिक्षये ।
बाधते व्याधिरूपेण तस्य जप्यादिभिः शमः ॥
कुष्ठञ्च राजयक्ष्मा च प्रमेहो ग्रहणी तथा ।
मूत्रकृच्छ्राश्मराकासा अतीसारभगन्दरौ ॥
दुष्टव्रणं गण्डमाला पक्षाघातोऽक्षिनाशनम् ।
इत्येवमादयो रोगा महापापोद्भवाः स्मृताः ॥

—शातातपस्मृति

पूर्व जन्म में किया हुआ पाप नरक के परिक्षय हो जाने पर मनुष्यों को किसी व्याधि के रूप में उत्पन्न होकर सताता है और उसका उपशमन जपादि द्वारा होता है । कुष्ठ, राजयक्ष्मा, प्रमेह, संग्रहणी, मूत्रकृच्छ्र, पथरी, अतिसार, भगन्दर, दुष्टव्रण, गण्डमाला, पक्षाघात और नेत्रहीनता इत्यादि रोग महापातकों के कारण ही होते हैं ।

पादन्यासकृतंदुःख कण्टकोत्थंप्रयच्छति ।
तत्प्रभूततरस्थूलशंकुकीलकसम्भवम् ॥ २५ ॥
दुःखंयच्छतितद्वच्चशिरोरोगादिदुःसहम् ।
अपथ्याशनशीतोष्णश्रमतापादिकारकम् ॥ २६ ॥

—मार्कण्डेय पुराण (कर्मफल)

पैर में काँटा लगने पर तो एक ही जगह पीड़ा होती है पर पाप कर्मों के फल से तो शरीर और मन में निरन्तर शूल उत्पन्न होते रहते हैं ।

स्वमलप्रक्षयाद्यद्वदग्नौ धास्यन्ति धावतः ।
तत्र पापक्षयात्पाप नराः कर्मानुरूपतः ॥

—शिव पुराण

धातुओं के मैल को हटाने के लिए जैसे उन्हें तीक्ष्ण अग्नि में रखते हैं, उसी तरह पापी प्राणियों को पाप–नाश के उद्देश्य से ही अपने कर्मों के अनुसार ही नरकों में गिराया जाता है ।

शरीर जैः कर्म दोषैर्याति स्थावरतां नरः ।
वाचिकैः पक्षि मृगतां मानसै रन्त्य जातिताम् ।।
इह दुश्चरितैः केचित्केचित् पूर्व कृतैस्तथा ।
प्राप्नुवन्ति दुरात्मानो करा रूपं विपर्ययम् ।।

"शारीरिक पाप कर्मों से जड़ योनियों में जन्म होता है । वाणी पापों से पशु–पक्षी बनना पड़ता है । मानसिक दोष करने वाले मनुष्य योनि से बहिष्कृत हो जाते हैं । इस जन्म के अथवा पूर्व जन्म के किये हुए पापों से मनुष्य अपनी स्वाभाविकता खोकर विद्रूप बनते हैं ।" (मनुस्मृति)

दुष्कृत्यों का फल हरेक को अवश्यम्भावी मिलता है, इस तथ्य को भली भाँति हृदयंगम कर लेना चाहिए । किया हुआ कर्म किसी को नहीं छोड़ता । इसका न कभी क्षय होता है, न क्षमादान की कोई व्यवस्था है । किसी न किसी रूप में मनुष्य को इसे भुगतना ही होता है । समय अवश्य लग जाय पर कर्मफल एक अकाट्य एवं सुनिश्चित सत्य है ।

नाधर्मः कारणापेक्षी कर्तारमभिमुञ्चति ।
कर्ताखलु यथा कालं ततः समभिपद्यते ।।

(महा. शांति. अ. २९८)

"अधर्म किसी भी कारण की अपेक्षा से कर्त्ता को नहीं छोड़ता, निश्चय रूप से करने वाला समयानुसार किये कर्म के फल को प्राप्त होता है ।"

कृतकर्म क्षयोनास्ति कल्पकोटि शतैरपि ।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।।

(शिव. कोटि रुद्र. अ. २३)

किये हुए कर्म का सौ करोड़ कल्प तक भी क्षय नहीं होता, किया हुआ शुभ तथा अशुभ कर्म अवश्य ही भोगना पड़ेगा ।"

अवश्यमेव लभते फलं पापस्य कर्मणः ।
भर्तः पर्यागते काले कर्त्ता नोस्त्य यत्र संशयः ।।

(वाल्मी. युद्ध. स. १११)

"पाप कर्म का फल अवश्य ही प्राप्त होता है । हे पते ! समय आने पर कर्त्ता फल पाता है इसमें संशय नहीं है ।"

यदा चरति कल्याणि शुभं वा यदि वाऽशुभम् ।
तदेव लभते भद्रे कर्त्ता कर्मजमात्मनः ।।
अवश्यं लभते कर्त्ता फलं पापस्य कर्मणः ।
घोरं पर्य्यागते काले द्रुमः पुष्पामिवार्तपम ।।

(वाल्मी. अरण्य. स. २९)

हे कल्याणी ! जो कुछ भी शुभ-अशुभ करता है, करने वाला वही अपने किये कर्मों के फल को प्राप्त होता है ।

करने वाला अपने पाप कर्मों का फल घोर काल आने पर अवश्य प्राप्त करता है । जैसे मौसम आने पर वृक्ष फलों को प्राप्त होते हैं ।

यथा धेनु सहस्त्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् ।
एवं पूर्व कृतं कर्म कर्त्तारमनुगच्छति ।।
अचोद्यमानानि यथा पुष्पाणि च फलानि च ।
तत्कालं नाति वर्तन्ते तथा कर्म पुराकृतम् ।।

(महा. अनु. अ. ७)

जैसे हजारों गौ में से बछड़ा अपनी माँ को ढूँढ़ लेता है, ऐसे ही पूर्व किया हुआ कर्म कर्त्ता को प्राप्त होता है । बिना प्रेरणा के ही जैसे फूल और फल अपने समय का उल्लंघन नहीं करते, वैसे ही पूर्व में किया हुआ कर्म समय का उल्लंघन नहीं करता ।

हर साधक के लिए शास्त्रों का स्पष्ट निर्देश है कि वे पहले अपने कुकृत्यों-ज्ञात एवं अविज्ञात से मुक्ति पायें, स्वयं को हल्का करें । तदुपरान्त ही उच्च स्तरीय साधना की बात सोचें । पेट में कब्ज हो तो सभी प्रकार के व्यायाम-आसन, प्राणायाम निरर्थक हैं । इससे पूर्व मल निष्कासन प्रक्रिया अनिवार्य है । 'कन्फेशन' प्रक्रिया की तरह यदि वचन कर लिया जाय तो उससे अन्तरात्मा हल्की होती है । तप, तितिक्षा का मार्ग अपनाकर आंतरिक कल्प की सम्भावनाएँ प्रबल बन जाती हैं । इस तथ्य के पीछे किसी भी प्रकार की भ्रांति हो तो उसका साधकों को पहले ही निवारण कर मार्गदर्शक से अपना प्रायश्चित्त विधान पूछ लेना चाहिए ।

समस्त व्याधियों का निराकरण–आध्यात्म उपचार से

आधि भौतिक–आदि दैविक एवं आध्यात्मिक क्षेत्रों में उपजने वाली अनेकानेक विपत्तियाँ मनुष्य को संत्रस्त करती रहती हैं । उनके नाम–रूप अनेक होते हुए भी उद्गम एक ही होता है–अन्तःकरण पर कषाय–कल्मषों का आवरण, आच्छादन । समुद्र एक ही है किन्तु उसमें जीव–जन्तु अनेक आकार प्रकार के उत्पन्न होते रहते हैं । अन्तराल एक है किन्तु उसमें सत्प्रवृत्तियों की सुखद–दुःखद सम्भावनाएँ चित्र–विचित्र रूप में प्रकट होती रहती हैं, उसी क्षेत्र का अवांछनीय उत्पादन मनुष्य को आधि–व्याधियों से भर देता है और प्रगति के मार्ग में पग पग पर अवरोध उत्पन्न करता है ।

बहुत समय पहले शारीरिक रोगों को बाहरी भूत–पलीतों का आक्रमण माना जाता था । पीछे वात, पित्त, कफ, ऋतु का प्रभाव उन्हें माना गया । उसके बाद रोग कीटाणुओं के आक्रमण की बात समझी गई । रोगों का अगला चरण यह बना कि आहार की विकृति से पेट में सड़न पैदा होती और उस विष के अनुसार ऐसे व्यक्तियों में सामान्य मनुष्य की तरह एक नहीं, अपितु दो भिन्न–भिन्न दृश्य जगतों का अनुभव होता है ।

मनोविज्ञानियों ने व्यक्तित्व के अन्तर्द्वन्द्व को समस्त मनोविकारों एवं मनोरोगों की जड़ माना है । आधुनिक मनोविज्ञान व्यक्तित्व की परतों के अध्ययन, विश्लेषण तक सीमित है । अर्न्तद्वन्द्वों की समाप्ति किस प्रकार हो ? इसके लिए इतना कहकर चुप हो जाता है कि परस्पर दो व्यक्तियों के रूप में विघटित मानवी सत्ता में एक्य स्थापित किया जाय तभी द्वन्द्वों से छुटकारा पा सकना सम्भव है । दूसरा व्यक्तित्व क्यों विकसित हो जाता है जो मनुष्य को दुष्प्रवृत्तियों में, अनैतिक गतिविधियों में निरत करता है । इस दिव्य द्वन्द्वात्मक स्थिति से छुटकारे के लिए कोई ठोस उपाय मनोविज्ञान नहीं बताता । आध्यात्म मनोविज्ञान की मान्यताएँ इस गुत्थी को सुलझाने में सहयोग देती हैं ।

आध्यात्म मनोविज्ञान का कहना है कि मानवी अन्तश्करण की संरचना दैवी तत्वों से मिलकर हुई है । अन्तश्करण अन्तरात्मा का क्रीड़ा क्षेत्र है ।

वहीं से सदा सत्प्रेरणाएँ उभरती रहती हैं । अन्तःकरण की सद्प्रेरणाओं की उपेक्षा, अवहेलना करने तथा दुष्कृत्यों में निरत होने से अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न होती तथा मनुष्य को त्रास देती है । मनुष्य की मूलभूत सत्ता दैवी तत्वों से युक्त है तो क्यों कर कोई दुष्कर्मों की ओर आकृष्ट होता है ? आध्यात्म विज्ञानी इसका कारण कर्मों के संस्कार को मानते हैं । जन्म-जन्मान्तरों के पशुवत् संस्कार ही मानवी चेतना पर छाये रहते हैं । उनके अनुसार अचेतन परतों में जड़ तक गहरी जमी यह कालिमा ही द्विविभाजित व्यक्तित्व को जन्म देती है ।

अब तो मनोविज्ञान के क्षेत्र में हुई शोधों से नये-नये तथ्य सामने आये हैं । उनसे पता चलता है कि शरीर की प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष क्रियाओं पर पूरी तरह मानसिक अनुशासन ही काम करता है । अचेतन मन की छत्र-छाया में रक्ताभिसरण, आकुंचन-प्रकुंचन, श्वास-प्रश्वास, निमेष-उन्मेष, ग्रहण-विसर्जन, निद्रा-जाग्रति आदि की अनैच्छिक कहलाने वाली क्रियाएँ चलती रहती हैं । चेतन मन के बुद्धिपूर्वक किये जाने वाले क्रिया-कलापों और लोक व्यवहारों से रोग उत्पन्न होते हैं । यह क्रम अधिकाधिक गहराई में प्रवेश करने का, अधिक बुद्धिमत्ता का, स्थूल से सूक्ष्म में उतरने का है । इस प्रगतिक्रम में उतरते-उतरते इन दिनों आरोग्य शास्त्र के मूर्धन्य क्षेत्र में इस तथ्य को खोज निकाला गया है कि शारीरिक रोगों के संदर्भ में आहार-विहार, विषाणु आक्रमण आदि को तो बहुत ही स्वल्प मात्रा में दोषी ठहराया जा सकता है, रुग्णता का असली कारण व्यक्ति की मनःस्थिति है । मनोविकारों की विषाक्तता यदि मस्तिष्क पर छाई रहे तो उसका अनुपयुक्त प्रभाव नाड़ी संस्थान के माध्यम से समूचे शरीर पर पड़ेगा । फलतः दुर्बलता और रुग्णता का कुचक्र बढ़ते-बढ़ते अकाल मृत्यु तक का झंझट खड़ा कर देगा । नये अनुसंधान जीवन शक्ति का केन्द्र हृदय को नहीं मानते हैं । रक्त की न्यूनाधिकता या विषाक्तता को रुग्णता का उतना बड़ा कारण नहीं माना जाता जितना कि मानसिक अवसाद एवं आवेश को । नवीन अनुसंधान बताते हैं कि जो भी व्यक्ति अपने पापों को छिपाता है, उसके मस्तिष्क में ग्रन्थियाँ स्वतः पनपने लगती हैं एवं वह द्विविभाजित व्यक्तित्व (डबल पर्सनलिटी) जैसे मनोविकारों का शिकार हो जाता है ।

एक शरीर में दो परस्पर विरोधी व्यक्तित्व का होना शरीर शास्त्रियों के अनुसार हर दृष्टि से हानिकारक सिद्ध होता है तथा अनेक प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न करता है ।

श्री एस. के डायमाड नामक विद्वान एवं न्यूरोसाइक्लोजी विशेषज्ञ ने एक पुस्तक लिखी है–'इन्ट्रोड्यूसिंग न्यूरोसाईक्लोजी ।' पुस्तक में बताया गया है कि किन्हीं–किन्हीं व्यक्तियों के मस्तिष्क में व्यक्तित्व की दो परतें विकसित हो जाती हैं तथा स्वतंत्र रूप से अलग–अलग व्यक्तियों का परिचय देती हुई काम करने लगती हैं । सामान्यतया मनुष्य के दृष्टितंत्र की कार्यप्रणाली दोनों सेरिब्रल–हेमीस्फियर के संयुक्त प्रयास में काम करती है, पर किन्हीं–किन्हीं में दाहिने और बाँयें सेरिब्रल हेमीस्फियर्स तालमेल नहीं बिठा पाते और वे स्वतंत्र तथा परस्पर एक दूसरे के विरोधी आचरण का परिचय देने लगते हैं । शरीर की परोक्ष और प्रत्यक्ष क्षमता पूरी तरह अचेतन और चेतन कहे जाने वाले मनःसंस्थान के नियंत्रण में रहती है, उसी के आदेशों का पालन करती है । शरीर का पूरा–पूरा आधिपत्य मनः मस्तिष्क के ही हाथों में रहता है । उस क्षेत्र की जैसी भी कुछ स्थिति होती है उसका प्रभाव शरीर पर पड़ता है । यदि मस्तिष्क आवेशग्रस्त होगा तो शरीर के अवयवों में उत्तेजना और बेचैनी छाई रहेगी । इस स्थिति में ऐसे रोग उत्पन्न होंगे जिनसे शरीर के उत्तेजित होने, टूटने–फूटने जैसे अवसाद का प्रभाव अंग अवयवों की दुर्बलता के रूप में देखा जा सकेगा ।

यह मोटा निष्कर्ष हुआ । बारीकी में उतरने पर पता चलता है कि अमुक शारीरिक रोग, अमुक मनोविकार के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं और वे तब तक बने ही रहते हैं, जब तक कि मानसिक स्थिति में कारगर परिवर्तन न हो जाय । इस अनुसंधान ने उस असमंजस को दूर कर दिया है जिसके अनुसार रोगियों को चिकित्सकों के दरवाजे पर ठोकरें खानी पड़ती हैं । नित नव दवाएँ बदलनी पड़ती हैं । किन्तु आशा, निराशा के झूले में झूलते हुए समय भर बीतता रहता है । रोग हटने का नाम ही नहीं लेते । तेज औषधियाँ अधिक से अधिक इतना कर पाती हैं कि बीमारी के स्वरूप और लक्षण में थोड़ा–बहुत फेर बदल प्रस्तुत कर दें । जीर्ण रोगियों में से अधिकांश का इतिहास यही है ।

शरीरशास्त्री अब इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि आरोग्य और रुग्णता की कुंजी मनःक्षेत्र में सुरक्षित है । मानसिक असंतुलन और प्रदूषण का निराकरण किये बिना किसी को भी स्वयं शरीर का आनंद नहीं मिल सकता । जीवनी शक्ति का पिछले दिनों बहुत गुणगान होता रहा है । उसे प्राप्त करने के लिए आकाश-पाताल के कुलावे भी मिलाये जाते रहे हैं । टानिकों, हारमोनों और ग्रन्थि आरोपणों जैसे प्रयोग-परीक्षण की भरमार रही है । किन्तु गरीबों की बात तो दूर कोट्याधीश, शासनाध्यक्ष एवं स्वयं चिकित्सकों तक को उस प्रयास में कुछ पल्ले न पड़ा । अब यह निष्कर्ष निकला है कि जीवनी शक्ति कोई शरीरगत स्वतन्त्र क्षमता नहीं है वरन् जिजीविषा की मानसिक प्रखरता ही अपना परिचय जीवनी शक्ति के रूप में देती रहती है । मानसिक स्थिति के उतार-चढ़ावों के अनुरूप यह जीवनी शक्ति भी घटती-बढ़ती रहती है । शरीर की बलिष्ठता, सक्रियता, स्फूर्ति ही नहीं कोमलता, सुंदरता और कांति तक मानसिक स्थिति पर अवलम्बित हैं । विपन्नता की मनःस्थिति में भय, शोक, क्रोध आदि के अवसर आने पर तो तत्काल आकृति से लेकर शरीर की सामान्य स्थिति पर बुरा प्रभाव पड़ते प्रत्यक्ष देखा जाता है । यदि मनोविकार जड़ जमा लें तो समझना चाहिए कि शरीर एक प्रकार से विपन्नता में फँस ही गया और उस दलदल से निकल सकना चिकित्सा उपचार के बलबूते की बात नहीं रह गयी है ।

शारीरिक रोग प्रत्यक्ष होते हैं । इसलिए उनकी जानकारी भी सहज ही मिल जाती है और दवा दारू से इलाज होने के साधन भी मौजूद रहते हैं । मानसिक रोगों में प्रायः विक्षिप्त, अर्धविक्षिप्त स्तर के लोग गिने जाते हैं जो अपना सामान्य काम-काज चला सकने में असमर्थ हो गये हों, जिनका शरीर निर्वाह और लोक व्यवहार लड़खड़ाने और लटपटाने लगा हो, जो अपने लिए और साथी-सम्बन्धियों के लिए भार बन गये हों । ऐसे रोगियों की संख्या भी लाखों से आगे बढ़कर करोड़ की सीमा अपने ही देश में छूने लगी है । जो विचलित-विक्षिप्त हुए हैं, ऐसे लोगों की संख्या का कोई ठिकाना नहीं जो रोजी-रोटी तो कमा लेते हैं और खाते, सोते समय भी साधारण लगते हैं, पर उनका चिंतन विचित्र और विलक्षण होता है । कितने ही दुष्टता की भाषा में सोचते और हर किसी पर दोषारोपण करते हुए शत्रुता की परिधि में लपेटते

है । कितने ही आशंकाओं, संदेहों, आक्षेपों के इतने अभ्यस्त होते हैं कि उन्हें अपनी पत्नी, बेटी, बहिन आदि तक के चरित्र पर अकारण संदेह बना रहता है । सम्बन्धियों और पड़ोसियों को अपने विरुद्ध कुचक्र रचते हुए देखते हैं और विपत्ति का पहाड़ अपने ऊपर टूटता ही अनुभव करते रहते हैं । शेखचिल्लियों के से मनसूबे बाँधते रहने वाले, सम्भव-असम्भव का विचार किये बिना अपने सपनों की एक अनोखी दुनिया बनाये बैठे रहते हैं । न अपनी पटरी दूसरों के साथ बिठा पाते हैं न किसी और को अपना घनिष्ठ बनने का अवसर देते हैं । परिस्थिति का मूल्यांकन कर सकना, दूसरों की मनःस्थिति और परिस्थिति समझ सकना उनके लिए सम्भव ही नहीं होता है । अटपटे अनुमान लगाते और बेतुके निष्कर्षों पर पहुँचते हैं । विचार जो भी उठें वे एक पक्षीय सनक की तरह बिना किसी तर्क-वितर्क का आश्रय लिए बेलगाम के घोड़े पर चढ़कर दौड़ते चले जाते हैं । जो सोचा जा रहा है, उसका आधार क्या है और उस सनक पर चढ़े रहने का अन्ततः परिणाम क्या निकलेगा इतना समझ पाना उनके क्षत-विक्षत मस्तिष्क के लिए सम्भव नहीं होगा । अकारण मुँह लटकाये बैठे रहने वाले, जिस-जिस पर दोषारोपण करने वाले को दुर्भाग्य की कुरूप तस्वीरें गढ़ने में देर नहीं लगती, दुनिया को निस्सार बताने वाले, आत्महत्या की बात सोचते रहने वालों की संख्या अपने ही इर्द-गिर्द ढेरों मिल सकती है । हँसी-खुशी से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता । कहीं न कहीं से मुसीबत की कल्पना ढूँढ़ लाते हैं और स्वयं दुःख पाते, साथियों को दुःख देते, जिन्दगी की लाश ढोते रहते हैं । यह सनक कभी-कभी आक्रामक हो उठती है तो जो भी उनकी चपेट में आता है उसे सताने में कसर नहीं छोड़ते । मित्र को शत्रु और शत्रु को मित्र समझने में उनकी अदूरदर्शिता पग-पग पर झलकती रहती है । ठगों के आये दिन शिकार होते रहते हैं । आयु बड़ी हो जाने पर भी सोचने का तरीका बालकों जैसा ही बना रहता है । किसी महत्वपूर्ण प्रसंग में उनका परामर्श तनिक भी काम का सिद्ध नहीं होता । अपनी कार्य पद्धति को किसी उद्देश्य के साथ जोड़ सकना उनसे बन नहीं पड़ता । जैसे-तैसे समय गुजारते हुए, ज्यों-त्यों करके ही मौत के दिन पूरे कर लेते हैं । इन्हें पागल तो नहीं कह सकते, पर व्यक्तित्व की परख की दृष्टि से उससे कुछ अच्छी स्थिति का भी उन्हें नहीं समझा जा सकता ।

विक्षिप्त—अर्धविक्षिप्त और विक्षिप्तता के सन्निकट सनकी लोगों से प्रायः आधा समाज भरा पड़ा है । मूढ़ मान्यताओं, कुरीतियों, अन्धविश्वासों से जकड़े हुए लोगों में तर्कशक्ति एवं विवेक बुद्धि का अभाव रहता है । उनके लिए अभ्यस्त ढर्रा ही सब कुछ होता है । उस लक्ष्मण रेखा से बाहर जाने में उन्हें भय लगता है । स्वतंत्र चिंतन का प्रकाश उनकी आँखें चौंधिया देता है और औचित्य को समझने, स्वीकार करने जैसा साहस उनके जुटाये जुट ही नहीं पाता । इस वर्ग के लोगों को मानसिक दृष्टि से अविकसित नर—पशुओं की श्रेणी में ही रखा जा सकता है ।

शरीर से असमर्थों, दुर्बलों और रुग्णों की ही तरह मानसिक पिछड़ेपन और विकारग्रस्तता के दल—दल में फँसे हुए लोगों का ही बाहुल्य अपने समाज में दृष्टिगोचर होता है । यह विक्षिप्तता भी एक प्रकार की बीमारी ही है जिसमें प्राणियों को तिरस्कार, असंतोष, अभाव एवं चित्र—विचित्र प्रकार के दुःख सहने पड़ते हैं ।

शारीरिक व्याधियाँ और मानसिक आधियाँ जिसे घेरे हुए हैं उन विकृत मस्तिष्क और अस्वस्थ शरीर वाले के द्वारा न कुछ उपयुक्त सोचते बन पड़ेगा और न उचित कर सकना सम्भव होगा । अतएव उनकी अटपटी, कानी—कुबड़ी गतिविधियाँ किसी महत्वपूर्ण सफलता तक पहुँचने ही न देंगी, सम्बन्धित व्यक्ति उस बेतुके व्यक्ति से खिंचते—खिंचते रहेंगे । फलतः सच्चे सहयोग से भी प्रायः वंचित ही रहना पड़ेगा । मतभेद बढ़ते—बढ़ते शत्रुता और विग्रह तक जा पहुँचता है और आक्रमण, प्रत्याक्रमण के कुचक्र में ऐसे व्यक्ति को भारी घाटा उठाना पड़ता है । प्रगति पथ तो प्रायः अवरुद्ध ही बना रहता है । यह नई विपत्ति शारीरिक और मानसिक रुग्णता की ही देन है । दो रंगों के मिलने से तीसरा एक और नया रंग प्रकट हो जाता है । आधि और व्याधि ग्रस्तों को अवरोध और असफलता का तीसरा संकट अतिरिक्त रूप से सहन करना पड़ता है ।

इतना सब जान लेने के उपरान्त हमें एक ही निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि चेतना की मूल सत्ता अन्तःकरण को प्रभावित करने वाले नैतिक और अनैतिक विचार एवं कर्म ही हमारी भली और बुरी परिस्थितियों के लिए पूर्णतया उत्तरदायी हैं । इसी उद्गम से हमारे उज्ज्वल

भविष्य का आधार खड़ा होता है और यहीं से विपत्तियों के जाल गिराने वाली दुखद सम्भावनाएँ भी विनिर्मित होती हैं । इस मूल केन्द्र का परिशोधन करना ही एक प्रकार से आंतरिक कायाकल्प जैसा प्रयास है । प्रस्तुत संकटों से छुटकारा पाने और निकट भविष्य में फलित होने वाले संचित प्रारब्धों का निराकरण करने के लिए आंतरिक परिशोधन का प्रयास इतना अधिक आवश्यक है कि उसे अनिवार्य की संज्ञा दी जा सकती है और कहा जा सकता है कि विष वृक्ष की जड़ काटने से ही काम चलेगा, पत्तियाँ तोड़ने से नहीं । इतना सब कुछ जानते हुए भी व्यक्ति असहाय सा जीवन क्यों जीता है ? क्यों स्वयं व्याधियों को आमंत्रित करता है ? इस पर अध्यात्म विज्ञानियों का मत है कि अधिकांश व्यक्तियों को दुष्प्रवृत्तियों से उबरने की इच्छा होती है । इसके लिए वे प्रयास भी करते हैं, पर आँधी, तूफान की भाँति हठीले कुसंस्कार अपने प्रवाह में बहा ले जाते हैं और अभीष्ट इच्छा मात्र एक कल्पना बनकर रह जाती है । दुष्प्रवृत्तियों से जकड़े जाल–जंजाल से निकलते नहीं बनता । मनःचिकित्साशास्त्र एवं आधुनिक मनोविज्ञान इस असमंजस की स्थिति से उबरने का कोई ठोस उपाय नहीं सुझाता । अध्यात्म तत्ववेत्ताओं ने इनके लिए तप–तितिक्षा की प्रायश्चित प्रक्रिया को एक समग्र और समर्थ उपचार माना है । मानसिक द्वन्द्वों से उबरने के लिए पूर्व में किये पापों का जहाँ समर्थ मार्गदर्शन के समक्ष प्रकटीकरण आवश्यक है वहीं यह भी जरूरी है कि जो किया गया है उस भूल के लिए सहर्ष प्रायश्चित भी किया जाय । प्रायश्चित द्वारा ही दुहरे व्यक्तित्व से बन आयी मनोग्रन्थियों का उन्मूलन सम्भव है ।

अन्तराल के परिशोधन में उथले उपाय कारगर नहीं होते । उसके लिए अध्यात्म चिकित्सा ही एक मात्र अवलम्बन है । इसमें न केवल विपन्नताओं के निराकरण की सामर्थ्य है वरन् प्रसुप्त श्रेष्ठता को उगाने, उठाने जैसी विशेषताएँ भी विद्यमान हैं । इतना ही नहीं उस आधार को अपनाने से जीवन के परमलक्ष्य की, पूर्णता की उपलब्धि एवं ईश्वर प्राप्ति के महान् प्रयोजन को प्राप्त करने का भी पथ प्रशस्त होता है । अध्यात्म क्षेत्र में चिकित्सा परिचर्या एवं बलिष्ठता अभिवृद्धि की दृष्टि से कल्प साधना को असाधारण माना गया है एवं अत्याधिक महत्व दिया गया है ।

प्रायश्चित का पूर्वार्द्ध–पश्चात्ताप

चान्द्रायण साधना का पूर्वार्द्ध है–पश्चात्ताप और उत्तरार्ध है क्षति पूर्ति । दोनों को मिला देने पर ही प्रायश्चित की वह समग्र प्रक्रिया पूर्ण होती है जिसके आधार पर इस जन्म के एवं पूर्व जन्मों के संचित क्रियमाण दुष्कृत्यों का निराकरण होता है । उपवास भी उस चतुर्विध तपश्चर्या का एक महत्वपूर्ण अंग है, पर इतने भर से ही समग्र उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती । जीवन निर्वाह में भोजन महत्वपूर्ण तो है, पर उसके अतिरिक्त भी जल, साँस तथा विश्राम की आवश्यकता पड़ती है । उपवास को भोजन माना जाय तो चान्द्रायण के साथ जुड़े हुए अन्य अंग–अनुशासनों को भी कम महत्व नहीं दिया जाना चाहिए ।

मनुष्य के किए हुए दुष्कर्म ही सांसारिक सुख और आत्मिक प्रगति में प्रमुख बाधा बनकर खड़े रहते हैं । पैर में काँटा लग जाने पर सारे शरीर को कष्ट होता है और नींद नहीं आती । जब तक उसे निकाल बाहर न किया जाय तब तक चैन नहीं पड़ता । विषैला पदार्थ खा लेने पर पेट में जलन होती है, भारी कष्ट होता है और मृत्यु संकट सामने आ खड़ा होता है । वमन–विरेचन द्वारा उसे विभिन्न नाच नाचने, क्रीड़ा कौतुक करने के लिए विवश करती रहती है । इतना ही नहीं वह परिस्थितियाँ भी इतनी जटिल उत्पन्न कर देती है जो टाले नहीं टलती । कारण कि इनकी जड़ें अचेतन की गहन परतों में होती हैं । जड़ न कटे तो टहनी तोड़ने से ही वृक्ष के अस्तित्व पर क्या असर पड़ने वाला है ।

इन दिनों शारीरिक रोगों की अभिवृद्धि दिन दूनी, रात चौगुनी होती जा रही है । चिकित्सकों, चिकित्सालयों एवं नित नई औषधियों में आँधी तूफान की तरह बढ़ोत्तरी हो रही है, इतने पर भी उसके नियंत्रण के कोई लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होते । इस असमंजस का समाधान एक ही है कि मनःक्षेत्र में घुसती–पनपती उन कुत्साओं–कुण्ठाओं का पर्यवेक्षण निराकरण किया जाय जो न केवल शारीरिक रोगों–मानसिक उद्वेगों के लिए जिम्मेदार हैं, वरन् व्यावहारिक जीवन में भी अनेकानेक विग्रह संकट आये दिन खड़े करती है । मनःस्थिति परिस्थिति के लिए उत्तरदायी है

इस तथ्य को समझ लेने पर इस निष्कर्ष पर पहुँचना सम्भव हो सकेगा कि संकटों का आत्यन्तिक समाधान क्या हो सकता है ?

मनोविज्ञान ने यह सिद्ध किया है कि शारीरिक रोगों का प्रमुख कारण मनःक्षेत्र में जमे हुए हठीले कुसंस्कार ही होते हैं—हठीले इस अर्थ में कि उन्हें धारण किया हुआ व्यक्ति यह भली-भाँति समझता है कि उसने जो अनुपयुक्तताएँ अपना रखी हैं, उन्हें छोड़ देना चाहिए । इतने पर भी वे स्वभाव के साथ बुरी तरह गुंथ गई, आदतों के रूप में इस प्रकार परिपक्व बन गई होती हैं कि उन्हें हटाने के सामान्य उपायों से कोई ठोस परिणाम निकलता दिखाई नहीं पड़ता । समझदारी का तकाजा एक ओर, आदतों का हठीलापन दूसरी ओर । यदि इन दोनों की तुलना की जाय तो कुसंस्कारों का हठीलापन ही भारी पड़ता है ।

सभी जानते हैं कि मनुष्य ही है जो मानसिक असंतुलन उत्पन्न करता है और उनके विक्षोभों के फलस्वरूप शरीर के विभिन्न अवयवों की सामान्य कार्य पद्धति में अवरोध उत्पन्न करता है । फलतः बीमारियाँ उसे आ घेरती हैं ।

शरीर यात्रा में रक्त संचार का कितना ही महत्व क्यों न हो वस्तुतः उसका नियंत्रण केन्द्र मस्तिष्क में रहता है । हृदय पोषण देता है यह सही है, उसमें प्रोत्साहन एवं नियमन की क्षमता नहीं, यह कार्य मस्तिष्क का है । उसी के ज्ञान तन्तु मेरुदण्ड के माध्यम से समस्त शरीर में फैलते हैं और निर्देश देकर सारे काम कराते हैं । मस्तिष्क में नींद आने लगे तो अंग-अंग सहज ही शिथिल होते चले जाते हैं । आकुंचन-प्रकुंचन, निमेष-उन्मेष, श्वास-प्रश्वास क्रियायें अचेतन-संस्थान के इशारे पर चलती हैं । जीवनी शक्ति भोजन से नहीं वरन् मनोगत साहसिकता और प्रसन्नता के आधार पर मिलती और पनपती है । यदि इस केन्द्र में गड़बड़ी चले तो उसका प्रभाव शरीर के विभिन्न अवयवों पर पड़े बिना रह नहीं सकता ।

रोगों की जड़ शरीर में हो तो काय चिकित्सा से सहज सुधार होना चाहिए । पोषण की पूर्ति आहार से होनी चाहिए और विषाणुओं को औषधि के आधार पर हटाने में सफलता मिलनी चाहिए । किन्तु देखा जाता है कि जीर्ण रोगियों की काया में रोग बुरी तरह रम जाते हैं कि

उपचारों की पूरी पूरी व्यवस्था करने पर भी हटने का नाम नहीं लेते । एक के बाद दूसरे चिकित्सक के नुस्खे बदलते रहने पर भी रुग्णता से पीछा नहीं छूटता । इलाज के दबाव में बीमारियाँ रूप रंग बदलती रहती हैं, वा जड़ें न कटने से टूटे हुए वृक्ष फिर से नई कोपलों की तरह उगते हैं । जड़ों को खुराक मिलती रहे तो टहनियाँ तोड़ने से भी पेड़ सूखता नहीं है ।

रोगों के दो वर्ग हैं एक आधि दूसरा व्याधि । व्याधि शारीरिक रोगों को और आधि मानसिक रोगों को कहते हैं । ज्वर, खाँसी, दमा, दर्द, अपच, मधुमेह, रक्तचाप आदि को शारीरिक रोग में गिना जाता है और उन्माद, सनक, मूर्खता, विस्मृति, विसंगतियाँ, उलझन आदि की मानसिक रोगों में गणना होती है । मस्तिष्कीय रोगों की चिकित्सा पागलखाने के डाक्टर करते है और मनःचिकित्सक पूछताछ करके अंतरंग में जमी कुण्ठाओं को उगलवाने और सत्परामर्श देने के उपायों का सहारा लेते हैं । शरीर विज्ञानी उपचार औषध शल्य कर्म आदि के द्वारा करते हैं । इनमें आंशिक सफलता भी मिलती है, पर प्रयत्न फिर भी अधूरा ही रह जाता है । वैसा लाभ नहीं मिलता जैसा अभीष्ट है । इस अधूरेपन को दूर करने के लिए मन की उस गहराई तक जाना होगा जहाँ से कि शरीर और मन को प्रभावित करने वाले प्रवाहों को उभारने और काम करने की प्रेरणा मिलती है । कुँए में जो पानी भरा दीखता है वह उसकी तली में जल फेंकने वाले स्रोतों से आता है । इसी प्रकार मस्तिष्कीय अस्त–व्यस्ततायें चेतना की मूल प्रवृत्ति के मर्मस्थल में से उभरती हैं । मनुष्य के गहन अन्तराल में कुछ आस्थायें जैसी होती हैं । व्यक्तित्व का मूल स्रोत उन्हीं में सन्निहित है ।

पौराणिक प्रतिपादन है कि देवता स्वर्ग में ऊर्ध्वलोक में रहते हैं और दानव भूमि से नीचे पाताल में–पतितावस्था में रहते हैं । देवताओं का स्वर्ग लोक आकाश में ऊँचाई पर है । इन्हें उत्कृष्टता और निकृष्टता का लोक कह सकते हैं । लोकों का वर्णन किया गया तो इस प्रकार है मानो ये कोई देश क्षेत्र हों, पर वस्तुतः वे मनोभूमियों पर हैं और उन्हें दृष्टिकोण भी कहा जा सकता है । स्वर्ग में सुख–सम्पदायें भरी पड़ी हैं और नरक में यातनाएँ ही यातनाएँ हैं । यह यातनाएँ मरने के बाद ही मिलती हों ऐसी बात नहीं है । उनका अनुभव इसी जीवन में, इसी शरीर में भी किया

जाता है । शारीरिक व्याधियों और मानसिक आधियों को इसी रूप में लिया जा सकता है ।

अन्तःकरण की आस्थाएँ ही हैं जो मनुष्य को ऊपर उठने एवं नीचे गिरने की प्रेरणा देती हैं । उसी की प्रतिक्रिया व्यक्तित्व को समुन्नत एवं पतित बनाकर रख देती हैं । इसी आन्तरिक उत्थान-पतन के आधार पर मनुष्य स्वर्गीय एवं नारकीय दृष्टिकोण विनिर्मित करता है और तदनुसार अनेक प्रकार के शारीरिक, मानसिक कष्टों को सहन करना पड़ता है । इतना ही नहीं जीवन के अन्य क्षेत्र भी ऐसी विषम परिस्थितियों से भर जाते हैं जिनमें रहने वाला अपने को पग-पग पर असफल, उपेक्षित, तिरस्कृत, दरिद्र और दुर्भाग्यग्रस्त अनुभव करता है ।

डॉ. ब्राउन, डॉ. पीले मैगडूगल, हेडफील्ड और डॉ. जुंग आदि अनेक प्रसिद्ध मनोविज्ञान शास्त्रियों ने यह माना है कि फोड़े-फुन्सी से लेकर टी. बी. और कैन्सर तक की बीमारियों के पीछे कोई दूषित संस्कार ही कारण होते हैं । मनुष्य बाहर से ईश्वर परायण, सत्यभाषी, मधुर-व्यवहार करने वाला दिखाई देता है । पर सच बात यह होती है कि यदि अन्तर्मन की नैतिकता को दबाकर केवल दिखावे के लिए कुछ किया जाता है तो उसका मन भीतर ही भीतर अन्तर्द्वन्द्व करता है । उस अर्न्तद्वन्द्व के फलस्वरूप ही उसमें रोग पैदा होते हैं । कई बार यह संस्कार बहुत पुराने हो जाते हैं, तब बीमारी फूटती है । पर यह निश्चय है कि बीमारियों का पदार्पण बाहर से नहीं व्यक्ति के मन से ही होता है ।

इस कथन की पुष्टि में श्री मैकडोनल्ड अमेरिका का उदाहरण देते हुए कहते हैं-'अमेरिका के बीमारों में आधे ऐसे होते हैं, जिनमें ईर्ष्या, द्वेष, स्पर्धा, क्रोध, धोखे-बाजी आदि भाव प्रभुत्व जमाये होते हैं । जो इस प्रकार मानसिक रोगी होते हैं, वे अपनी भावनाओं का नियंत्रण नहीं कर सकते, उनका व्यक्तित्व अस्त-व्यस्त हो जाता है, उसी से वे उल्टे काम करते और बीमारियों को बढ़ाते हैं ।' आगे दुश्चिन्ता की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हुए श्री मैकडोनल्ड लिखते हैं-"मानसिक चिन्ताओं द्वारा रक्त के अन्दर 'एड्रेनलीन' नामक हारमोन की अधिकता हो जाती है, उसी

से श्वास फूलना, कम्पन, चक्कर आना, बेचैनी, दिल धड़कना, पसीना आना और दुःस्वप्न बनते हैं। दौरे और बड़ी बीमारियाँ भी किसी न किसी मानसिक ग्रन्थि के ही परिणाम हो सकते हैं, जिसे डाक्टर नहीं जानता, कई बार मनुष्य भी नहीं जानता, पर व्याधियाँ होतीं मन का कुचक्र ही है।"

इस सम्बन्ध में भारतीय मत बहुत स्पष्ट है। यहाँ जीवन को इतनी गहराई से देखा गया है कि आधि-व्याधि के मानसिक कारण पाप-ताप के संस्कार रूप में स्पष्ट झलकने लगते हैं। योग-वाशिष्ट में ऋषि कहते हैं-

चित्ते विधुरते देहः संक्षोभमनुयात्यलम्।

-६।१।८१।३०

चित्त में गड़बड़ होने से शरीर में गड़बड़ होती है।

इदं प्राप्तमिदं नेयि जाड्याद्वा घनमोहदाः।
आधयः सम्प्रवर्तन्ते वर्षासु मिहिका इव।।

-६।१।८१।१६

अन्तर्द्वन्द्व और अज्ञान से मोह में डालने वाले मानसिक रोग पैदा होते हैं, फिर शारीरिक रोग इस तरह पैदा हो जाते हैं, जैसे बरसात के दिनों में मेंढक अनायास दिखाई देने लगते हैं।

दुष्काल व्यवहारेण दुष्क्रिया स्फुरणेन च।
दुर्जना संगदोषेण दुर्भावोद्भावनेन च।
क्षीणत्वाद्वा प्रपूणत्वन्नाडीनां रन्ध्रसन्ततौ।
प्राणे विधुरतां याते काये तु विकलीकृते।

-६।१।८१।१८।१९

दौस्थित्यकारणं दोषाद्व्याधिर्देहे प्रवर्तते।

अनुचित समय पर अनुचित काम करने से, बुरे लोगों के पास बैठने से मनुष्य मन में पाप और बुरी भावनाओं को स्थान देने लगता है। ऐसा होने पर नाड़ियाँ अपनी सामान्य कार्य-प्राणली बंद कर देती हैं। कुछ नाड़ियों की शक्ति नष्ट हो जाती है, कुछ अधिक शक्तिशाली हो जाती हैं, जिससे प्राण का बहाव उलटा-पुलटा हो जाता है। प्राण संचार में गतिरोध उत्पन्न होने पर ही शरीर की स्थिति बिगड़ती और उसमें तरह-तरह के रोग पैदा हो जाते हैं।

आगे चलकर योग वाशिष्ठ ग्रन्थ में इस प्रसंग का और भी अच्छी तरह खुलासा किया गया है—

संक्षोभात्साम्युत्सर्ज्य वहन्ति प्राणवायवः ।

—६।१।८१।३२

असमं बहति प्राणे नाड्योयान्ति विसंस्थितिम् ।

—६।१।८१।३३

काश्चिन्नाड्यः प्रपूर्णत्वं यान्तिकाश्चिच्चरिक्तताम् ।

—६।१।८१।३४

कुजीर्णत्वमजीर्णत्व मतिजीर्णत्वमेव वा ।
दोषा यैव प्रपात्यन्नं प्राणसंचारदुष्क्रमात् ।।

—६।१।८१।३५

तथान्नानि नत्यन्तः प्राणवातः स्वामाश्रयम् ।

—६।१।८१।३६

यान्यन्नानि निरोधेन तिष्ठन्त्यन्तः शरीर के ।

—६।१।८१।३७

तान्येव व्याधितां यान्ति परिणामस्वभावतः ।

—६।१।८१।३८

एवमाधेर्भवेव्याधिस्तस्याभावाच्च नश्यति ।।

—६।१।८१।३९

अर्थात् चित्त में उत्पन्न हुए विकार से ही शरीर में दोष पैदा होते हैं । शरीर में क्षोभ या दोष उत्पन्न होने से प्राणों के प्रसार में विषमता आती है और प्राणों की गति में विकार होने से नाड़ियों के परस्पर सम्बन्धों में खराबी आ जाती है । कुछ नाड़ियों की शक्ति का तो स्राव हो जाता है, कुछ मे जमाव हो जाता है ।

प्राणों की गति में खराबी से अन्न अच्छी तरह नहीं पचता । कभी कम कभी अधिक पचता है । शरीर के सूक्ष्म यंत्रों में अन्न के स्थूल कण पहुँच जाते और जमा होकर सड़ने लगते हैं, उसी से रोग उत्पन्न होते हैं । इसी प्रकार आधि (मानसिक रोग) से ही व्याधि (शारीरिक रोग) उत्पन्न होते है । उन्हें ठीक करने के लिए मनुष्य को औषधि की

उतनी आवश्यकता नहीं जितनी यह कि मनुष्य अपने बुरे स्वभाव और मनोविकारों को ठीक कर ले।

साधारणतया समझाने-बुझाने की पद्धति ही सुधार परिवर्तन के लिए काम में लायी जाती है, पर देखा यह गया है कि भीतरी परतों पर जमें हुए कुसंस्कार इतने गहरे होते हैं कि उन पर समझाने-बुझाने का प्रभाव बहुत ही थोड़ा पड़ता है। नशेबाजी जैसी आदतों से ग्रसित व्यक्ति दूसरे अन्य समझदारों की तरह ही उस बुरी आदत की हानि स्वीकार करते हैं। दुःखी भी रहते हैं और छोड़ना भी चाहते हैं, पर उस आंतरिक साहस का अभाव भी रहता है जिसकी चोट से उस अभ्यस्त कुसंस्कारिता को निरस्तर किया जा सके। इस विवशता से कैसे छूटा जाय ? इसका उपयुक्त उपाय सूझ ही नहीं पड़ता। लगता रहता है कि कोई दैवी दुर्भाग्य ऐसा पीछे पड़ा है जो विपत्ति से उबरने का कोई आधार ही खड़ा नहीं होने देता। पग-पग पर अवरोध ही खड़े करता और संकट पटकता भी वही दीखता है। यह दुर्भाग्य और कोई नहीं, अपने अंतरंग पर छाये हुए कषाय-कल्मष कुसंस्कार ही हैं, जो अभ्यास और स्वभाव का अंग बन जाने के कारण छुड़ाये नहीं छूटते और पटक-पटककर मारते हैं। नरक के यमदूतों जैसा त्रास देते हैं। इस विषमता को उलटने का समर्थ उपचार आंतरिक परिशोधन ही है। इस अन्तस कायाकल्प के लिए जितने भी उपाय खोजे गये हैं, उनमें तत्वदर्शियों ने अपने अनुभवों के आधार पर साधना तपश्चर्या को अत्यन्त प्रभावशाली पाया है। इनमें चान्द्रायण साधना को तो और भी अधिक महत्त्व दिया गया है। दुष्कृत्यों के निवारण की सर्वश्रेष्ठ पद्धति अध्यात्म चिकित्सा ही है, यह तथ्य भली-भाँति समझ लिया जाय।

कुकृत्यों को शासकीय एवं सामाजिक नियंत्रण के आधार पर बहुत कुछ काबू में रखा जा सकता है। मानसिक दुश्चिन्तन को दूरदर्शी विवेकशीलता के सहारे घटाया या हटाया जा सकता है, पर इतने से ही कुछ काम चलने वाला नहीं है क्योंकि प्रेरणाओं का उद्गम स्रोत तो अन्तःकरण में उठने वाली दुर्भावनाएँ, आदर्शों के प्रति अनास्थाएँ ही होती हैं। प्रत्यक्ष और परोक्ष में उसी की चित्र-विचित्र भूमिकाएँ अनेकानेक कुकर्मों एवं दुर्घटनाओं के रूप में सामने आती रहती हैं। वास्तविक उपचार इसी क्षेत्र का होना चाहिए।

शरीर की रुग्णता, मन की उद्विग्नता, आर्थिक दरिद्रता, व्यक्तित्व का पिछड़ापन, पारिवारिक मनोमालिन्य, सम्पर्क क्षेत्र का विग्रह, साथियों की अवमानना जैसे संकटों के कारण तो सामयिक भी होते हैं और उनके लिए दोषी कइयों को ठहराया जा सकता है किन्तु वास्तविकता तलाशने पर प्रतीत होता है कि यह समस्त संकट एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं, वे एक ही भानुमती के पिटारे से निकले हैं । विष वृक्ष की जड़ें कटनी ही चाहिए, टहनी मरोड़ने भर से कुछ काम चलने वाला नहीं है । न तो चिकित्सक के काबू में रोग आने वाले हैं और न उपदेशक, मनोवैज्ञानिक मानसिक विक्षोभों का समाधान कर सकते हैं । क्योंकि वे जिस उद्गम स्रोत से निकलते हैं, वहाँ उभार उफनता ही रहा तो बाहरी रोकथाम से क्या बनेगा, एक छेद रोकते-रोकते दूसरा फूट पड़ेगा, मेंड़ बाँधते और टूटते रहने का सिलसिला तब तक चलता ही रहेगा जब तक कि उफान उत्पन्न करने वाला स्रोत बन्द नहीं हो जाता ।

शरीर और मन के रोगों की रोकथाम के लिए कई प्रकार के उपचार, उपकरण एवं विशेषज्ञ उपलब्ध हो सकते हैं किन्तु अन्तःस्थल की गहराई में पहुँचकर वहाँ कुछ उलट-पुलट करनी हो तो फिर अध्यात्म चिंतन एवं साधनात्मक उपचार ही एकमात्र अवलम्बन रह जाता है । 'योग' भावनाओं को उत्कृष्टता के साथ जोड़ता है और 'तप' कुसंस्कारिता को गलाकर सुसंस्कारिता में ढालने वाली भट्टी का प्रयोजन पूर्ण करता है ।

इन आवश्यकताओं की पूर्ति जिन साधना उपचारों से हो सकती है उनमें कल्प साधना सर्वोपरि है । उसकी निर्धारित कार्य पद्धति का प्रभाव आरोग्य रक्षा, मनोयोग चिकित्सा के रूप में ही नहीं, एक कदम आगे बढ़कर अन्तराल की गहरी परतों में जमी हुई कुसंस्कारिता को उखाड़ फेंकने की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है । एकांगी साधनाएँ तो कितनी ही प्रचलित हैं, जिनमें परिशोधन और प्रगति परिष्कार के दोनों प्रयोजन सिद्ध होते हैं । जो एक होते हुए भी अनेक प्रयोजन सिद्ध कर सके ऐसी अध्यात्म चिकित्सा प्रस्तुत कल्प साधना के अतिरिक्त दूसरी कोई परिलक्षित नहीं होती ।

हठीले कुसंस्कारों से मुक्ति प्रायश्चित प्रक्रिया से ही सम्भव

दूध, शाक, फल आदि बहुत देर तक यथा स्थिति में नहीं रखे जा सकते इसलिए अधिक मात्रा में होने पर उन्हें बेचकर रुपया बना लेते हैं । यह रुपया सुरक्षित रहता है, आवश्यकतानुसार उसके बदले दूध, शाक, फल अथवा दूसरी वस्तुएँ खरीदी जा सकती हैं । इसी प्रकार दुष्कर्म घटनाक्रम के रूप में विस्तृत एवं सामयिक होने के कारण उन्हें पीछे अपना प्रभाव प्रकट करने के लिए अन्तःचेतना 'संस्कारों' के रूप में सुरक्षित रख लेती है । यह संस्कार ही व्यक्तित्व का मूलभूत आधार होते हैं, इन्हीं के आधार पर गुण, कर्म एवं स्वभाव की विशेषताएँ पूर्व संचित पूँजी के रूप में साथ बनी रहती है । यों सामयिक कमाई भी इसमें जुड़ती रहती है और संचित संस्कार सम्पदा के प्रभाव को न्यूनाधिक करती रहती है ।

मनुष्य जीवन की प्रमुख समस्याओं के कारण बाह्य परिस्थितियों में ढूँढ़ने की प्रचलित परम्परा को अपूर्ण ठहराया और अमान्य किया जा रहा है । व्यक्तित्व के अन्तराल में जमी हुई हठीली कुसंस्कार सम्पदा ही कठपुतली की तरह मनुष्य को त्रस्त किये रहती है, जब तक उसे बाहर न निकाल लिया जाय तब तक वह संकट दूर नहीं होता । आँख में तिनका और कान में मच्छर घुस जाय तो बेचैनी उत्पन्न होगी और वह तब तक बनी ही रहेगी, जब तक कि उन्हें निकाल न दिया जाय । पाप कृत्यों के बारे में भी यही बात है । वे बन पड़ें तो उन्हें प्रायश्चित के द्वारा निकाल बाहर करना ही एक मात्र उपाय है ।

प्रमुख प्रश्न उन दुष्कर्मों का है जो भूतकाल में बन पड़े हैं और जिनके लिए आत्मा कचोटती और धिक्कारती है । वस्तुतः यह आत्म–प्रताड़ना ही शारीरिक, मानसिक रोगों को उत्पन्न करती रहती है । उसी उद्विग्नता में मन चंचल बना रहता है । न उपासना में लगता है, न सत्कर्मों में । इस काँटे को निकालना ही चाहिए । भोजन के साथ मक्खी

पेट में चली गई तो उलटी कर देना ही एकमात्र उपाय है। भूतकाल में बन पड़े पापों का प्रायश्चित करके ही उनका शमन समाधान किया जा सकता है।

प्रायश्चित के चार चरण हैं–प्रथम दो पूर्वार्ध है, अन्तिम दो उत्तरार्ध–

(१) जीवन भर के दुष्कर्मों की सूची बनाकर उनके द्वारा दूसरों को पहुँची हानि का स्वरूप समझना।

(२) दुष्कर्मों का चिंतन कर आत्म–विश्लेषण करना, उन्हें न दोहराने का संकल्प एवं विज्ञजनों के समक्ष उनका प्रकटीकरण करते हुए प्रायश्चित का संकल्प लेना।

(३) पश्चाताप के प्रतीक रूप में व्रत, उपवास, जप, अनुष्ठान आदि कृत्य करना।

(४) व्यक्ति अथवा समाज को जो हानि पहुँची हो, उसकी क्षति पूर्ति करने के लिए यथा सम्भव अधिकतम प्रयत्न करना।

पाप कर्म इसलिए बनते और बढ़ते रहते हैं कि कर्त्ता उनके द्वारा होने वाली हानियों पर ध्यान नहीं देता। उन्हें अन्य लोगों द्वारा अपनाई जाने वाली सामान्य क्रिया–प्रक्रिया मान लेता है। बाद में वे अभ्यास बन जाते हैं। धन, अधिकार, आतंक के उपयोग से उसे कई लाभ मिलने लगते हैं तो उनका आकर्षण और भी अधिक बढ़ जाता है। कुमार्ग से विरत होने का यही मार्ग है कि उस मार्ग पर चलने वाले को उसकी हानियाँ स्वयं दृष्टिगोचर हों और प्रतीत हो कि इस दिशा में चलकर वह अब तक अपना तथा दूसरों का कितना अहित कर चुका। यही गतिविधियाँ जारी रहीं तो और भी कितनी हानि हो सकती है।

दुष्कर्मों, दुष्प्रवृत्तियों और दुर्भावनाओं से दूसरों का अहित और अपना हित होने की बात सोची जाती है, पर वस्तुस्थिति इसके सर्वथा विपरीत है। कुमार्ग की कँटीली राह पर चलने से अपने ही पैर काँटों में बिंधते, अपने ही अंग छिलते और कपड़े फटते हैं। झाड़ियों को भी कुछ हानि होगी, पर इससे क्या ? घाटे में तो अपने को ही रहना पड़ा। अपना मस्तिष्क विकृत होने से प्रगति के रचनात्मक कार्यों में लग सकने

वाली शक्ति नष्ट हुई । अनावश्यक गर्मी के बढ़ने से यह बहुमूल्य यंत्र विकृत हुआ । शारीरिक और मानसिक रोगों की बाढ़ आई, मनःस्थिति गड़बड़ाने से क्रिया-कलाप उल्टे हुए और विपरीत परिस्थितियों की बाढ़ आ गई । हर दृष्टि से यह अपना ही अहित है । अस्तु बुद्धिमत्ता इसी में है कि सन्मार्ग पर चला जाय, सत्प्रवृत्तियों को अपनाया जाय और अन्तःकरण को सद्भावनाओं से भरा-पूरा रखा जाय ।

इस प्रकार के चिंतन से ही वह विरोधी प्रतिक्रिया उत्पन्न हो सकती है जिसके कारण दुष्कर्मों के प्रति भीतर से घृणा उपजती है, पश्चात्ताप होता है । यही वे आधार हैं जिनके सहारे भविष्य में वैसा न होने की आशा की जा सकती है । अन्यथा, कारणवश उपजा सदाचरण का उत्साह, श्मशान-वैराग्य की तरह हो जायेगा और फिर उसी पुराने ढर्रे पर गाड़ी के पहिये लुढ़कने लगेंगे । प्रथम चरण में पश्चात्ताप की उपयोगिता इसी दृष्टि से है कि अन्तःकरण में अनाचार विरोधी प्रतिक्रिया इतने उग्र रूप से उभरे कि भविष्य में उसी प्रकार के अनाचरण की गुंजायश ही शेष न रह जाय ।

दूसरा चरण मन की गाँठें खोल देने का है । इसमें दूसरों का नहीं अपना ही लाभ है । अनैतिक दुराव के कारण मन की भीतरी परतों में एक विशेष प्रकार की मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियाँ बनती हैं । उनसे केवल शारीरिक ही नहीं, मानसिक रोग भी उठ खड़े होते हैं ।

प्रकटीकरण के साथ-साथ उन दुष्कर्मों के प्रति लज्जित और दुःखी होने की वृत्ति का उभरना 'पश्चात्ताप' है । पश्चात्ताप में भविष्य में वैसा न करने का संकल्प भी रहता है अन्यथा 'कह देने और करने लगने' से तो बात ही क्या बनेगी । निश्चय किया जाना चाहिए कि जिस प्रकार के पाप बन पड़े हैं वैसे अथवा अन्य प्रकार के दुष्कर्मों का साहसपूर्वक परित्याग किया जा रहा है । भविष्य में पवित्र और परिष्कृत जीवन ही जीना है । ऊपर से ही लीपापोती न की जा रही हो । अन्यथा पाप की जड़ें जहाँ की तहाँ बनी रहेंगी । वे अवसर पाते ही फिर फलेंगी-फूलेंगी और पुनरावृत्ति होती रहेगी ।

पश्चात्ताप का स्वरूप है-सच्चे मन से दुःखी होना । भूल की

भयंकरता का अनुभव करना और भविष्य में इस प्रकार के आचरण न करने के लिए संकल्प करना और उसे कठोरतापूर्वक निवाहना । इतना कर चुकने पर ही प्रायश्चित की यथार्थता सामने आती है । पाप के प्रकटीकरण से कई लाभ होते हैं । मन के भीतर जो दुराव की गाँठें बँधी रहती हैं वे खुलती हैं । मनोविज्ञान शास्त्र का सुनिश्चित मत है कि मनोविकारों के, दुष्कर्मों के दुराव से मानसिक ग्रन्थियाँ बनती हैं और वे अनेक शारीरिक और मानसिक रोगों के रूप में उभरती हैं । मनः चिकित्साशास्त्री, मानसिक रोगियों से उसके जीवन के घटनाक्रम को विस्तारपूर्वक बताने के लिए प्रोत्साहन करते हैं । इसमें अप्रकट दुरावों का यदि प्रकटीकरण हो गया तो रोग का निराकरण सरल हो जाता है ।

योऽन्यथा संतमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते ।
स पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः ।।

—मनुस्मृति

जो अपनी वस्तुस्थिति को छिपाता है, जैसा कुछ है उससे भिन्न प्रकार को प्रकट करता है वह चोर, आत्महत्यारा और पापी कहलाता है ।

कृत्वा पापं न गूहेत गुह्यमानं विवर्द्धते ।
स्वल्पं वाथ प्रभूतं वा धर्मविद्भ्यो निवेदयेत् ।।
तेहि पापे कृते वेद्या हन्तारश्चैव पाप्मनाम् ।
व्याधितस्य यथा वैद्या बुद्धिमन्तो रुजापहाः ।।

—पाराशर स्मृति

पाप कर्म बन पड़ने पर उसे छिपाना नहीं चाहिए । छिपाने से वह बहुत बढ़ता है । पाप छोटा हो या बड़ा उसे किसी धर्मज्ञ से प्रकट अवश्य कर देना चाहिए । इस प्रकार उसे प्रकट कर देने से पाप उसी तरह नष्ट हो जाते हैं जैसे चिकित्सा करा लेने पर रोग नष्ट हो जाते हैं । प्रकटीकरण की महत्ता बताते हुए शास्त्र कहता है—

तस्मात् पापं गूहेत गुह्यमानं विवर्धयेत् ।
कृत्वा तत् साधुष्वख्येयं ते तत् शमयन्त्युत ।।

—महा. अनु.

अतः अपने पाप को न छिपायें । छिपाया हुआ पाप बढ़ता है । यदि कभी पाप बन गया हो तो उसे साधु पुरुषों से कह देना चाहिए वे उसकी शांति कर देते हैं ।

प्रकटीकरण के उपरान्त प्रतीकात्मक दण्ड व्यवस्था का चरण है । यह सांकेतिक है । बच्चे के गलती करने पर उसे कान पकड़ने, कोने में खड़ा होने, बैठक आदि करने के हल्के दण्ड दिये जाते हैं, यह लाक्षणिक हैं । उनका महत्व इतना भर है कि इस प्रताड़ना की स्मृति, गलती की भयंकरता और उसकी पुनरावृत्ति न करने की आवश्यकता की छाप अन्तःचेतना पर अधिक अच्छी तरह छोड़ सके, वास्तविक समाधान तो कान पकड़ने पर कहाँ होता है ? चोरी करना कान पकड़ना, चोरी करना कान पकड़ना–यदि यही क्रम चलने लगे तो बात उपहासास्पद बन जायगी । यदि बच्चा किसी की कापी चुरा लाया है तो कान पकड़ने भर से उसका प्रायश्चित नहीं हुआ, वह तो स्मृति को झकझोरना भर है । जिसकी कापी चुराई गई थी, उसकी क्षति पूर्ति इतने भर से कहाँ हुई ? उसकी तो कापी वापिस मिलनी चाहिए, जो हानि हुई उसकी भरपाई का प्रबन्ध होना चाहिए । प्रायश्चित का असली भाग वही है जिसमें ऋण मोचन किया जाता है ।

अनैतिक दुरावों के प्रकटीकरण में खतरा भी है कि ओछे व्यक्ति उन जानकारियों का अनुचित प्रयोग करने बदनामी करने तथा हानि पहुँचाने के लिए कर सकते हैं । अस्तु निस्संदेह इस प्रकटीकरण के लिए ऐसे सत्पात्रों को ही चुनना चाहिए जिसकी उदारता एवं दूरदर्शिता असंदिग्ध हो । चिकित्सक के आगे रोगी को अपने यौन रोगों की वस्तुस्थिति बतानी पड़ती है । उदार चिकित्सक उन कारणों को प्रकट करते नहीं फिरते, जिनकी वजह से वह रोग उत्पन्न हुए । उनका दृष्टिकोण रोगी की कष्ट निवृत्ति भर होता है । ऐसे ही उदार चेतना एवं उपयुक्त मार्गदर्शन कर सकने में समर्थ व्यक्ति ही इस योग्य होते हैं जिनके सामने मन की दुराव ग्रन्थियाँ खोली जा सकें ।

ईसाई धर्म में प्रवेश करने वाले को 'वपतिस्मा' लेना पड़ता है । उस संस्कार के समय मनुष्य को अब तक के अपने पाप पादरी के सम्मुख

एकान्त में कहने होते हैं । उस धर्म में मृत्यु के समय भी यही करने की धर्म परम्परा है । मरणासन्न के पास पादरी पहुँचता है । उस समय अन्य सभी लोग चले जाते हैं । मात्र पादरी और मरणासन्न व्यक्ति ही रहते हैं । वह व्यक्ति अपने पापों को पादरी के सामने प्रकट करता है । इस प्रकार उसके मन पर चढ़ा भार हल्का हो जाता है । पादरी शांति-सद्गति की प्रार्थना करता और रोगी को आश्वस्त करके महाप्रयाण के लिए विदा करता है । बपतिस्मा और मरणकाल में इस स्वीकारोक्ति को-'कन्फैशन' को अत्यन्त पवित्र और आवश्यक माना गया है । मनशास्त्र के अनुसार यह प्रथा नितान्त श्रेयस्कर ठहराई गई है ।

प्रायश्चित प्रकटीकरण को एक अति महत्वपूर्ण अंग माना गया है ।अनैतिक कृत्यों के दुराव को कभी किसी के सामने प्रकट न किया जाय तो मनःक्षेत्र में वह उर्वरता उत्पन्न न हो सकेगी जिनसे आध्यात्मिक सद्गुणों का अभिवर्धन सम्भव होता है ।

क्षतिपूर्ति-पूर्णाहुति

क्षतिपूर्ति को शास्त्रकारों ने इष्टापूर्ति का नाम दिया है और उसे चान्द्रायण कल्प साधना के साथ एक अनिवार्य अंग के रूप में जोड़ा है ।

क्षतिपूर्ति दो माध्यमों से होती है । (१) समयदान, श्रमदान (२) साधनदान, अर्थदान । श्रमदान के रूप में धर्म प्रचार की पदयात्रा को तीर्थ-यात्रा कह कर उसकी आवश्यकता बताई गई है । तीर्थयात्रा मात्र देव प्रतिमाओं के दर्शन, नदी, सरोवरों के स्नान को नहीं कहते । उच्चस्तरीय उद्देश्य के निमित्त परिभ्रमण करना, जनसम्पर्क और सत्प्रवृत्तियों के बीजारोपण, अभिवर्धन के लिए प्रबल प्रयास करना ही तीर्थयात्रा का प्रमुख उद्देश्य है । आज उसका स्वरूप जो भी बन गया हो, पर शास्त्र मर्यादा में तीर्थ यात्रा में पदयात्रा का ही उद्देश्य था । छोटे-छोटे विराम, विश्राम के रूप में ऐतिहासिक पुण्य स्थानों में कुछ समय ठहरना और वहाँ की पुरातन परम्परा का सान्निध्य प्राप्त करना उचित तो है, पर पर्याप्त नहीं । सच्ची तीर्थयात्रा लकीर पीटने, पर्यटन का मनोरंजन करने जैसी उथली नहीं हो सकती, उसके साथ कारगर परमार्थ प्रयत्नों को जुड़े हुए होना ही चाहिए ।

श्रमदान में श्रेष्ठ कामों के लिए शारीरिक श्रम किया जाता है । मिलजुल कर कितने ही सामूहिक प्रयत्न सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन के लिए, रचनात्मक-सुधारात्मक प्रवृत्तियों को अग्रगामी बनाने के लिए किये जाने चाहिए । इन दिनों तो उनकी नितान्त आवश्यकता है । सामूहिक श्रमदान से रीछ-वानरों का पुल बाँधना, ग्वाल-बालों का गोवर्धन उठाना प्रख्यात है । ऐसे-ऐसे अनेक कार्यक्रम प्रज्ञा अभियान के अन्तर्गत जुड़े हुए हैं । इनमें से कुछ सामूहिक रूप से करने के लिए हैं अथवा हजारों किसान द्वारा किये गये वृक्षारोपण प्रयास की तरह एकाकी भी किए जा सकते हैं । शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, प्रतिभापरक, प्रभाव क्षेत्र में प्रेरणादायक स्तर के अनेक प्रकार के श्रमदान हैं । अपने शरीर, मन, कौशल एवं प्रभाव के द्वारा स्वयं कुछ महत्वपूर्ण काम करना एवं दूसरों से करा लेना-यह सभी प्रयास श्रमदान की परिधि में आते हैं । इन प्रयोजनों के लिए कहीं भी जाना, किसी से भी सम्पर्क साधना तीर्थ यात्रा के पुण्य फल में सम्मिलित है ।

क्षतिपूर्ति का दूसरा प्रकार है—साधन दान । उपार्जित सम्पदा का कोई महत्त्वपूर्ण अंग सत्प्रयोजनों में लगा देना अंशदान है । साधनदान को अंशदान कहा गया है, धनदान नहीं । अंशदान का अर्थ होता है—अपने संचय में से किसी अनुपात में त्याग किया जाना । पेट भरने लायक दो रुपया रोज कमाने वाले द्वारा एक समय भूखा रहकर एक रुपया बचाना और उसे परमार्थ में लगा देना आधा अंशदान हुआ । दस लाख की पूँजी वाले का दस रुपया लगाना अनुपात की दृष्टि से एक लाखवाँ भाग हुआ । इस दृष्टि से अंशदान हजार गुना अधिक पुण्यफल दायक है ।

अध्यात्म क्षेत्र में साधनदान में धनराशि के विस्तार की कोई गणना महत्ता नहीं । परखा यह जाता है कि परिस्थितियों की तुलना में किसकी उदारता का स्तर कितना बढ़ा—चढ़ा है । किसने कितनी कृपणता त्यागी और कितनी उदार परमार्थ परायणता अपनाने में किस अनुपात में त्याग करने का साहस दिखाया ।

परमार्थ प्रयोजनों में कभी अन्नदान, वस्त्रदान, औषधिदान, निर्धनों एवं कष्ट पीड़ितों की सुविधा के लिए किया जाता था । साथ ही यह भी ध्यान में रखा जाता था कि पीड़ा और पतन का एकमात्र कारण मनुष्य का पिछड़ा—पतनोन्मुख व्यक्तित्व ही है । उसे ऊँचा उठाने में संलग्न सद्ज्ञान की प्रेरणा एवं सत्कर्म की धर्मधारणा का महत्त्व जड़ सींचने के समान है । तात्कालिक एवं सांसारिक कष्ट दूर करने के लिए अस्पताल और सुख—सुविधा सम्वर्धन के लिए उद्यान, तालाब बनाने जैसे कार्य मात्र शरीर क्षेत्र की पदार्थ परक सुख—सुविधाएँ ही बढ़ाते हैं । चींटी को आटा, गाय को चारा, कौए को पिण्ड खिलाना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संतोष उपार्जन करने का एक हल्का—फुल्का तरीका है । अन्यथा उपयोगिता की दृष्टि से उनका कोई महत्व नहीं । वे प्राणी अपने पुरुषार्थ से अपना गुजारा बड़े मजे में कर लेते हैं । बिना आवश्यकता वाले पर दान थोपना ऐसा ही है जैसा कि करोड़पति मठाधीशों अथवा स्वर्ण जटित देवालयों पर दान—दक्षिणा का भार लादकर उन्हें किसी और अपव्यय के लिए उत्तेजित करना ।

आज की स्थिति में सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति कर सकने वाला, समस्त समस्याओं का समाधान करने वाला एक ही प्रयोजन है—प्रज्ञा

विस्तार, सद्भाव सम्वर्धन की पृष्ठभूमि बनाना और अज्ञानान्धकार को मिटाने के लिए युग चेतना के दीपक जलाना । प्रज्ञा अभियान के अन्तर्गत ऐसे अनेक प्रयोजन हैं जिन्हें निश्चित रूप से ब्रह्मदान कहा जा सकता है । ब्रह्मदान को अन्य समस्त दानों की तुलना में सहस्र गुना अधिक पुण्य फलदायक बताया गया है । इन दिनों किसी प्रायश्चित कर्त्ता को अंशदान करना हो तो उसे जनमानस के परिष्कार, सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन, आलोक वितरण को ही प्रमुखता देनी चाहिए ।

देव दक्षिणा जिसे पूर्णाहुति इष्टापूर्ति का अंग माना जाता है, को इस प्रकार साधक सम्पादित करते रह सकते हैं–

आत्म निर्माण के दो चरण–(१) साधना, स्वाध्याय, संयम, सेवा का दिनचर्या में समावेश और निर्वाह । (२) परिवार में सुसंस्कारिता के प्रचलन । श्रमशीलता, मितव्ययता, सुव्यवस्था, सज्जनता एवं उदार सहकारिता का परिजनों को अभ्यास कराना ।

लोक निर्माण के दो प्रयास–(१) अंशदान अर्थात् आजीविका का एक अंश प्रज्ञा प्रसार के लिए नियमित रूप से निकालना । न्यूनतम दस पैसा नित्य और महीने में एक दिन की कमाई ।

(२) समयदान अर्थात् न्यूनतम एक घण्टा नित्य और सामान्यतया इसके अतिरिक्त अवकाश के दिन भी प्रज्ञा अभियान को अपने क्षेत्र में विस्तृत करना तथा रचनात्मक सत्प्रवृत्ति संवर्धन के लिए नियोजित करना ।

साधना में नियमित गायत्री उपासना न्यूनतम एक माला का जप तथा प्रातःकालीन सूर्य की प्रकाश किरणों के आत्मसत्ता में अवतरण का ध्यान, गुरुवार या रविवार को आधे दिन का उपवास अथवा अस्वाद व्रत । महीने में एक दिन चौबीस आहुतियों का हवन ।

स्वाध्याय में नित्य–नियमित रूप से प्रज्ञा साहित्य न्यूनतम आधा घण्टा पढ़ना । युग सृजन के माध्यम से मानवता की सेवा के लिए यथा सम्भव प्रयत्न ।

परिवार निर्माण के लिए स्वयं आगे रहकर अन्य परिजनों को साथ लेना और पंचशीलों को कार्यान्वित करने के लिए समय–समय पर योजनाबद्ध प्रयास करते रहना है ।

इस प्रकार इस जन्म के विस्मृत एवं पूर्व जन्म के संचित पापों से निवृत्ति का श्रेष्ठतम मार्ग देव दक्षिणा ही हो सकता है ।

पापों के विषय में भी जनमानस की अनेकानेक भ्रान्तियाँ हैं । मात्र प्रत्यक्ष ही नहीं, दृष्टिगोचर न होने वाले परोक्ष दुष्कृत्य भी पाप माने जाते हैं । पाप शारीरिक भी होते हैं, मानसिक और आर्थिक भी । लोभ चोरी, डकैती जैसे शरीरजन्य पापों को ही पाप मानते हैं क्योंकि कानून में जिन्हें अपराध माना गया है लोक प्रचलन में भी उनकी भर्त्सना होती है । आर्थिक पापों में न केवल ठगी, मिलावट आदि की गणना है वरन् अनुचित माध्यमों से कमाना और उसका अनावश्यक संग्रह एवं अवांछनीय अपव्यय करना भी आर्थिक पापों में गिना जाता है । मानसिक पापों में अनुपयुक्त चिंतन ही नहीं वरन् दूसरों को अनैतिक परामर्श देना, अनुचित कामों का समर्थन-सहयोग करना भी इसी श्रेणी में आता है । राग-द्वेष की, लोभ-मोह की, वासना-तृष्णा की अमर्यादित स्थिति भी अध्यात्म निर्धारण के अनुसार पाप कर्मों में ही सम्मिलित होती है । इन सभी के दुष्परिणाम होते हैं । अस्तु प्रायश्चित की बात सोचते समय, क्षति पहुँचाने का लेखा-जोखा प्रस्तुत करते समय न केवल बहुचर्चित अपराधों पर विचार करना चाहिए वरन् यह भी देखना चाहिए कि मानसिक, आर्थिक अपराध कितने और किस स्तर के बन पड़े । यों जीवन सम्पदा ईश्वर ने जिस प्रयोजन के लिए दी थी उसे भुलाकर उस अमानत को निकृष्ट प्रयोजनों से विभिन्न कामों में खर्च करना भी 'अमानत में खयानत' जैसा पाप है । शास्त्रकारों ने इसे आत्महत्या एवं ब्रह्महत्या का नाम दिया है । आत्म कल्याण का मार्ग अवरुद्ध रखे रहना स्पष्टतः जीवन देवता का, भगवान का तिरस्कार, अपमान है । इसे भी हल्का पाप नहीं मानना चाहिए ।

पाप कर्मों का प्रायश्चित एवं पश्चात्ताप वर्ग की पूर्ति व्रत उपवास से, शारीरिक कष्ट सहने से, तितिक्षा कृत्यों से होती है । किन्तु क्षति पूर्ति का प्रश्न फिर भी सामने रहता है । इसके लिए पुण्य कर्म करने होते हैं, ताकि पाप के रूप में जो खाई खोदी गई थी वह पट सके, पुण्य-पाप का पलड़ा बराबर हो सके । दुष्प्रवृत्तियों को सत्प्रवृत्तियों से ही पाटा जा सकता है । इसलिए दुष्कर्म करके जो व्यक्ति विशेष को हानि पहुँचाई गई, समाज में

भ्रष्ट अनुकरण की परम्परा चलाई गई, वातावरण में विषाक्त प्रवाह फैलाया गया उसको निरस्त तभी किया जा सकता है, जब सत्प्रयोजनों को संवर्धित करने वाले पुण्य कर्म करके उसकी पूर्ति की जाय, समाज को सुखी और समुन्नत बनाने वाली सत्प्रवृत्तियों का अभिवर्धन आवश्यक माना जाय । इसके लिए समय, श्रम एवं मनोयोग लगाया जाय ।

व्यभिचारजन्य पापों का प्रायश्चित यही है कि नारी को हेय स्थिति से उबारने के लिए उसे समर्थ और सुयोग्य बनाने के लिए जितना पुरुषार्थ बन पड़े उसे लगाने के लिए सच्चे मन से प्रयत्न किया जाय ।

आर्थिक अपराधों का प्रायश्चित यह है कि अनीति उपार्जित धन उसके मालिक को लौटा दिया जाय अथवा सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन के श्रेष्ठ कामों में उसे लगा दिया जाय ।

घटनाओं की क्षति पूर्ति अर्थ दण्ड सहने से भी हो सकती है । रेल दुर्घटना आदि होने पर मरने वालों के घर वालों को सरकार अनुदान देती है । उसमें क्षतिपूर्ति के लिए आर्थिक प्रावधान को भी एक उपाय माना गया है । प्रायश्चित विधानों में क्षतिपूर्ति की दृष्टि से दान को महत्व दिया गया है । शास्त्र कहता है ।

सर्वस्वदानं विधिः सर्वपापविशोधनम् ।

—कूर्म पुराण

अनीति से संग्रह किए हुए धन को दान कर देने पर ही पाप का निवारण होता है ।

दत्त्वैवापहृतं द्रव्यं धनिकस्याभ्युपापतः ।
प्रायश्चित्तं ततः कुर्यात कलुषस्य पापनुत्तपे ।।

—विष्णु स्मृति

जिसका जो पैसा चुराया हो, उसे वापिस करे और उस चोर कर्म का प्रायश्चित करे ।

वापिसी सम्भव न हो या आवश्यक न हो तो अनीति उपार्जित साधनों का बड़े से बड़ा अंश श्रेष्ठ सत्कर्मों में लगा देना चाहिए ।

आचार्य वृहस्पति के अनुसार—

उपवासस्तथादानं उभौ अन्योन्याश्रितः ।

अर्थात्–प्रायश्चित में उपवास की तरह दान भी आवश्यक है । दोनों एक दूसरे के साथ परस्पर जुड़े हुए हैं ।

प्राज्ञ–प्रतिग्रहं कृत्वा तद्धनं सद्गतिं नयेत् यज्ञाद्वा पतितोद्धार पुण्यात् न्यायरक्षणेवापीकूप तड़ागेषु ब्रह्मकर्म समत्सृजेत् ।

–अरुण स्मृति

अनुचित धन जमा हो तो उसे यज्ञ, पतितोद्धार, पुण्य कर्म, न्याय रक्षार्थ, बावड़ी, कुआँ, तालाब आदि का निर्माण एवं ब्रह्म कर्मों में लगा दें । अनुचित धन की सद्गति इस प्रकार होती है ।

तेनोदपानं कर्त्तव्यं रोपणीयस्तथावटः ।

–शाततप.

तालाब खुदवा कर बरगद का पेड़ लगा देना चाहिए ।

सच्छास्त्रपुस्तकम् दद्यात् विप्राय सदक्षिणाम् ।

–पाराशर

ब्राह्मणों को दक्षिणा सहित श्रेष्ठ ग्रन्थ देना चाहिए ।

वापीकूपतड़ागादि देवतायतनानि च ।
पतितान्युद्धरेयस्तु व्रतपूर्ण समाचरेत् ।।

–यम.

बावड़ी, कुआँ, तालाब, देवमंदिर और जीर्णोद्धार आदि कार्य को व्रतपूर्ण स्थिति में करे ।

सोऽपि पापविशुद्धार्थ चरेच्चान्द्रायणं व्रतम् ।
व्रतान्ते पुस्तकं दद्यात् धेनुं वत्ससमन्वितम् ।।

–शात्तायन.

पापों की शुद्धि के लिए चान्द्रायण व्रत करे और व्रत के अन्त में श्रेष्ठ ग्रन्थ और बछड़े सहित गौ दान करे ।

सुवर्ण गोदानं भूमिदानं तथैव च ।
नाशयन्त्याशु पापानि अन्यजन्मकृतान्यपि ।।

–सम्वर्त.

सुवर्ण का दान, गौदान एवं भूमिदान शीघ्र ही पूर्व जन्म के पापों को नष्ट कर देते हैं ।

इन अभिवचनों में सत्साहित्य वितरण, विद्यादान, वृक्षारोपण, कुआँ, तालाब, देवालय आदि का निर्माण-यज्ञ, दुःखियों की सेवा, अन्याय पीड़ितों के लिए संघर्ष आदि अनेक शुभ कर्मों में क्षति की पूर्ति के रूप में अधिक से अधिक उदारतापूर्वक दान देने का विधान है । इस दान शृंखला में गौदान को विशेष महत्त्व दिया गया है ।

पाप निवृत्ति और पुण्य वृद्धि के दोनों प्रयोजनों की पूर्ति के लिए तीर्थयात्रा को शास्त्रकारों ने प्रायश्चित तप साधना में सम्मिलित किया है । तीर्थयात्रा का मूल उद्देश्य है धर्म प्रचार के लिए पदयात्रा । दूर-दूर क्षेत्रों में जन सम्पर्क साधने और धर्म धारणा को लोक-मानस में हृदयंगम कराने का श्रमदान तीर्थयात्रा कहलाता है । श्रेष्ठ सत्पुरुषों के सान्निध्य में प्रेरणाप्रद वातावरण में रहकर आत्मोत्कर्ष का अभ्यास करना भी तीर्थ कहलाता है । यों गुण, कर्म, स्वभाव को परिष्कृत करने के लिए किये गये प्रबल प्रयासों को भी तीर्थ कहते हैं । प्रायश्चित विधान में इसी प्रकार की सार्थक तीर्थयात्रा की आवश्यकता बताई गई है ।

आज की तथाकथित तीर्थयात्रा मात्र देवालयों के दर्शन और नदी सरोवरों के स्नान आदि तक सीमित रहती है । यह पर्यटन मात्र है । इतने भर से तीर्थयात्रा का उद्देश्य पूरा नहीं होता है । सत्प्रवृत्तियों के सम्वर्धन के लिए किया पैदल परिभ्रमण ही तीर्थयात्रा कहलाता है । यह शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य सम्वर्धन के लिए श्रेष्ठ उपचार भी है । धर्म प्रचार के लिए जन-सम्पर्क साधने का पैदल परिभ्रमण जन समाज को उपयुक्त प्रेरणायें प्रदान करता है । साथ ही उससे श्रमदान कर्त्ता की सत्प्रवृत्तियों का सम्वर्धन भी होता चलता है । ऐसे ही अनेक कारणों को ध्यान में रखकर तीर्थयात्रा को ऐसा परमार्थ कहा गया है जिसे कर सकना प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्भव हो सकता है । तीर्थयात्रा का स्वरूप और महात्म्य शास्त्रकारों ने इस प्रकार बताया है-

नृणां पापकृतां तीर्थे पापस्य शमनं भवेत् ।
यथोक्त फलदं तीर्थं भवेच्छुद्धात्मनां नृणाम् ।।

पापी मनुष्यों के तीर्थ में जाने से उनके पाप की शांति होती है । जिनका अन्तःकरण शुद्ध है, ऐसे मनुष्यों के लिए तीर्थ यथोक्त फल देने वाला है ।

तीर्थान्यनुसरन् धीरः श्रद्धायुक्तं समाहितः ।
कृतपापों विशुद्धश्येथे किं पुनः शुद्ध कर्मकृत ।।

जो तीर्थों का सेवन करने वाला धैर्यवान्, श्रद्धायुक्त और एकाग्र चित्त है वह पहले का पापाचारी हो तो भी शुद्ध हो जाता है, फिर जो शुद्ध कर्म करने वाला है, उसकी तो बात ही क्या है ।

तीर्थानि च यथोक्तेन विधिनां संचरन्ति ये ।
सर्वद्धन्द्वसहा धीरास्ते नराः स्वर्गगामिनः ।।

जो यथोक्त विधि से तीर्थयात्रा करते हैं, सम्पूर्ण द्वन्द्वों को सहन करने वाले हैं, वे धीर पुरुष स्वर्ग में जाते हैं ।

यावत् स्वस्थोऽस्ति मे देहो यावन्नेन्द्रियविक्लवः ।
तावत् स्वश्रेयसां हेतुः तीर्थयात्रां करोम्यहम् ।।

जब तक मेरा शरीर स्वस्थ है, जब तक आँख, कान आदि इन्द्रियाँ सक्रिय हैं, तब तक श्रेय प्राप्ति के लिए तीर्थयात्रा करते रहने का निश्चय करता हूँ ।

क्रिया कर्मेण महत्ता तपसा नियमेन च ।
दानेन तीर्थयात्राभिश्चिरकालं विवेकतः ।।
दुष्टकृतैः क्षयमापन्ने परमार्थ विचारणे ।
काकतालीय योगेन बुद्धिर्जन्तो प्रवर्तते ।।

बहुत दिनों तक यज्ञ–दानादि करने से, कठिन तपस्या, नियमपालन, तीर्थयात्रा आदि से विवेक बढ़ता है और इनके द्वारा बुरे कर्मों का नाश हो जाने पर, काकतालीय न्याय से मनुष्य में परमार्थ बुद्धि प्रस्फुटित हो जाती है ।

इतना भर हो सके तो यह सोचा जा सकता है कि प्रगति की दिशा में कुछ कदम चल पड़े । सतत् अभ्यास से चिंतन एवं कृत्य भी उसी रंग में रंगने लगते हैं । अपना आपा विस्तृत नजर आता है और उदार आत्मीयता का विस्तार होने लगता है ।

प्रायश्चित्त के रूप में कल्प साधना की पूर्णाहुति में इस प्रकार की क्षतिपूर्ति के लिए जो सम्भव हो, वह करना चाहिए । मात्र भोजन में थोड़ी कटौती करने और कुछ घण्टों की पूजा–उपासना को ही कल्प तपश्चर्या की इतिश्री नहीं मान लेना चाहिए ।

कल्पकाल की आहार साधना

परिस्थितियों को बदलना मनःस्थिति के हाथ में है । अनुकूलताओं और प्रतिकूलताओं का रोना तो भीरू, कायर, जीवन जीने की कला से अनभिज्ञ व्यक्ति रोते हैं । परिस्थितियों का सम्बन्ध बाह्य व्यक्तियों तथा सुविधाओं पर जितना निर्भर माना जाता है, उससे कहीं अधिक व्यक्ति के गुण, कर्म, स्वभाव पर निर्भर है । यदि व्यक्तित्व में बहिरंग को बदल डालने–अपने परिकर का कायाकल्प कर डालने की सामर्थ्य है तो कोई भी व्यवधान प्रगति को नहीं रोक सकता । यह तो मन का प्रमाद व अचेतन का ढर्रा है जो, "जैसा कुछ है वैसा ही चलने दो" की स्थिति के लिए विवश करता है । मनुष्य एक जीता जागता चुम्बक है जो अपने स्तर के अनुरूप परामर्श, वातावरण सहयोग, साधन चुपके–चुपके खींचता रहता है । उसके आस–पास वैसा ही परिकर जुट जाता है जैसी कि मनःस्थिति होती है । चोर, जेबकट, सन्त, सज्जन, पराक्रमी, पुरुषार्थी, आलसी, दरिद्र, दुर्व्यसनी अपने–अपने ढंग का समाज, अपने अनुकूल परिस्थितियाँ अपने चारों ओर बना लेते हैं । परिकर व साधन के समन्वय को परिस्थिति कहते हैं । अपवाद तो कहीं न कहीं बनते हैं । उत्थान और पतन के लिए मनुष्य स्वयं ही उत्तरदायी होता है । इस कथन को बार–बार समझना, आत्मसात कर लेना चाहिए ।

इस केन्द्र स्थली मनःसंस्थान को कैसे पवित्र, परिष्कृत बनाया जाय । इसके दो उपाय पहले ही बताये गये हैं । एक–चिंतन–मनन द्वारा अन्तःप्रेरणा उभारने और तदनुरूप जीवन की दिशा–धारा को बदलने का भावनात्मक उपाय और दूसरा–साधना–तपश्चर्या के दबाव से संचित कुसंस्कारों को गलाने और उन्हें सुसंस्कारिता के ढाँचे में ढालने का क्रियात्मक उपाय । चिन्तन की परिष्कृति ही योग है और चरित्र में निखार लाने वाली प्रक्रिया 'तप' । कल्प साधना में इन दोनों का समन्वय है । प्रगति पथ पर अग्रगमन इन दो पहियों पर ही सम्भव हो पाता है । प्रश्न यह उठता है कल्प साधना के इस दर्शन को व्यवहार में किस प्रकार उतारें ? दैनिक जीवन में तप तथा योग का समावेश न्यूनाधिक रूप में किस प्रकार बन पड़े ? इसके लिए आहार से अन्तःकरण पर प्रभाव तथा उसके माध्यम से आंतरिक परिशोधन की प्रक्रिया को समझना होगा ।

मन शरीर का एक भाग है । उसे ग्यारहवीं इन्द्रिय भी कहा जाता है । शरीर आहार से ही बनता है । इस कारण प्रकारान्तर से आहार के स्तर को ही शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक संतुलन का आधारभूत कारण माना गया है । अभक्ष्य को उदरस्थ करने वाला, अनावश्यक मात्रा में खाने वाला धर्मोपदेशक भले ही बन सके, साधक धर्मात्मा नहीं बन सकता । इसलिए पूजा उपचार की तरह ही कल्प–प्रक्रिया में आहार साधना पर अत्यधिक ध्यान देना होता है । स्वाध्याय, सत्संग, कथा–कीर्तन एवं धर्मानुष्ठानों की तरह ही आहार में सात्विकता एवं सदाशयता का समावेश भी आत्मिक प्रगति के अनिवार्य आधारों में सम्मिलित रखा गया है । कल्पकाल की साधना को आत्मोत्कर्ष के प्रयासों में मूर्धन्य इसलिए भी कहा गया है कि इसमें धर्मानुष्ठानों से अधिक आहार नियमन पर ध्यान दिया गया है । आहार निग्रह के उपरान्त मनोनिग्रह कठिन नहीं रह जाता । मन को यदि सदाशयता की ओर मोड़ा जा सके तो दृष्टि बदलते ही आत्मिक प्रगति के मार्ग में फिर कोई बड़ी बाधा शेष नहीं बच रहती । आहार कल्प की महत्ता को इसी परिप्रेक्ष्य में समझा जाना चाहिए ।

आध्यात्मिक कल्प की यह प्रक्रिया वस्तुतः एक प्रकार का तप है । तप में तितिक्षा का समावेश रहता है । गीता के अनुसार "विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः" (२।५९)–"उपवास करने से विषय विकारों की निवृत्ति होती है ।" इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए साधकों को अनुभवी, तत्वदर्शी, सदाचारी, आहार नियमन का परामर्श देते चले आये हैं । एक ही आहार का सेवन, किसी भी प्रकार के सम्मिश्रण से बचाव तथा जहाँ तक सम्भव हो आधा पेट ही आहार लेना–एक प्रकार का उपवास है, तप है । इसे मृदु चान्द्रायण का ही एक परिवर्धित स्वरूप समझा जा सकता है । इस प्रक्रिया में प्रायश्चित भी जुड़ जाने से अनुशासन–अनुबन्ध और भी कठिन हो जाता है । पूर्व में मनोभूमि प्रबल होने से और भी कड़ी तपश्चर्या साधक कर पाते थे, पर उस कृच्छ कड़े चान्द्रायण की स्थिति तक न लौट कर युग धर्म के अनुरूप कल्प साधना में सरलता उत्पन्न करना ही श्रेष्ठ माना जायेगा ।

उपवास की चान्द्रायण प्रक्रिया अति कठोर है । इसे लगभग एक महीने का अनुष्ठान कहना चाहिए । एक समय निर्धारित ग्रास के

अतिरिक्त किसी और समय खाने का नियम नहीं है । पूर्णिमा को पन्द्रह ग्रास खाने और एक-एक घटाने का ही नियम है । अमावस्या से एक-एक ग्रास बढ़ाते चलकर पूर्णिमा को पूर्ण आहार की स्थिति में पहुँचते हैं । इस प्रकार लगभग बीस दिन ऐसी स्थिति रहती है, जिसे न खाने के बराबर ही समझना चाहिए । उस स्थिति में जिसमें कम-अधिक किया जाता है, मन को अत्यधिक कड़ी तपश्चर्या की अवधि से गुजरना होता है । इसकों कठोर तो नहीं पर घर के नियमित अभ्यास से कुछ अलग-एक ही अन्न, एक ही शाक अथवा मात्र अमृताशन पर आधे पेट रहना, नित्य लगभग अस्वाद-उपवास की स्थिति में रहना भी एक प्रकार का तप है । कठोर तप जैसा चान्द्रायण में किया जाता है, करने वाले तो विरले मिलेंगे । एक दो दिन भोजन मिलना तो दूर चाय जैसी वस्तु न उपलब्ध होने पर ही पैर काँपना, सिर घूमना और नींद न आना जैसी शिकायतें उत्पन्न हो जाती हैं । शरीर में इतनी चर्बी किसी-किसी के ही होती है जो लम्बे समय तक एक प्रकार से सर्वथा निराहार स्तर का कठोर उपवास कर सके । साथ में जिस मानसिक संतुलन की आशा अपेक्षा होती है वह तो कहीं दीख ही नहीं पड़ता । उसके अभाव में आहार साधना तो दूर-सामान्य उपासना क्रम भी सम्भव नहीं हो पाता । मन भूख के कारण बेचैन हो तो एकाग्रता, स्थिरता की स्थिति कैसे रहेगी ? न रही तो भूखे रहना भले ही निभता रहे, वे अध्यात्म उपचार कैसे सधेंगे जिन्हें अपनाना कल्प साधना का मूलभूत उद्देश्य है । तपश्चर्या में उपासना भी एक अंग तो है, पर उतने भर से ही आत्म परिष्कार का समग्र उद्देश्य कहाँ पूरा होता है ।

कल्प सूत्रों में आज के मानव की सभी दुर्बलताओं, परिस्थितियों को दृष्टिगत रखकर जो संतुलित आहार साधना क्रम बनाया गया है, उसका बड़ा स्वरूप तो यह है कि साधक मात्र एक समय आधा पेट भोजन से काम चलायें । यह आहार भी एक ही अन्न हो, भाँति-भाँति के सम्मिश्रण न हों । इसे दो बार में बाँटना हो तो मृदु स्वरूप में कुल आहार को सुबह तथा शाम दो बार में बाँट सकते हैं । कहने का आशय यह है कि कुल मिलाकर आधा भोजन किया जाय एवं एक ही प्रकार के आहार द्वारा अधिक से अधिक मनःसंतुलन का अभ्यास किया जाय ।

आमतौर से लोग दो समय भोजन करते हैं । इसलिए यह मान लिया गया है कि एक समय भोजन करने से काम चलाया जाना चाहिए । यह आहार उतना ही होना चाहिए जितना कि नित्य प्रति होता है । शाम के बदले का भी दोपहर को खाने की, इसी समय दूना, ड्योढ़ा कर लेने की चतुरता करनी हो तो बात दूसरी है ।

ऊँट एक दिन पानी पीकर एक सप्ताह तक रेगिस्तान में चल लेता है । उतना पानी पेट में भर लेता है कि एक सप्ताह तक फिर पीने की आवश्यकता न पड़े । मगर भेड़ के बच्चे को, साँप–मेंढ़क को, व्याघ्र–हिरन को इतनी मात्रा में खा लेता है कि फिर कई दिन तक मुख खोलने की आवश्यकता नहीं पड़ती । तीर्थ–पुरोहित भी ऐसा ही करते हैं । एक समय में इतना 'छक' लेते हैं कि दूसरे समय की तो बात ही क्या–दूसरे दिन भी न मिले तो पेट कुछ माँगेगा नहीं । यह नीति कल्प साधकों को अपनानी हो तो फिर उपवास वैसा ही मखौल बन जायेगा जैसा कि एकादशी व्रत करने वाले तथाकथित फलाहारी माल–मलाई इतनी ठूँस लेते हैं कि पेट को हाहाकार करना पड़े । साधकगण भी ऐसी ही दिल्लगीबाजी उपवास में करने लगे तो यह तपश्चर्या न रहकर आत्म–प्रवंचना ही बन जायेगी ।

गायत्री तीर्थ की उपवास चर्या को ऐसा संतुलित रखा गया है कि उससे न खाली पेट रहने से उत्पन्न होने वाली कठिनाई का सामना करना पड़े और न पेट को विश्राम मिलने के उद्देश्य में व्यतिरेक उत्पन्न हो । मात्रा घटाना तो हर हालत में आवश्यक ही है । दोपहर को उतनी ही मात्रा में निर्धारित आहार लिया जाय, जितना कि आमतौर से लिया जाता है । न कम, न अधिक । इसी में कल्प काल की तप–तितिक्षा की सार्थकता भी है ।

इस साधना के साथ अस्वाद व्रत भी जुड़ा है । बिना मसाले का, नमक का भोजन खाने का सबका अभ्यास भी नहीं होता । प्रकृति में विद्यमान लौकी, तोरई, गाजर, परवल जैसे शाक, खरबूजा, आम, पपीता जैसे सस्ते फलों पर ही निर्वाह भी एक माह तक किया जा सके तो मानना चाहिए कि एक बहुत बड़ी तप साधना आज के युग में सध गयी । शाकाहार व दुग्ध आहार कल्प से भी सीधी सादी अमृताशन अथवा एक ही आहार कल्प की साधना है । शांतिकुंज में अब ब्वाइलर व्यवस्था द्वारा भाप से अन्न, शाक या खिचड़ी को पकाकर हर साधक को वन्दनीय माताजी द्वारा अपने

हाथ से दिया जाता है। अपनी खुराक को निर्धारित करने का आत्मानुशासन साधक को अपनाना होता है। पकने के पूर्व वन्दनीय माताजी अपने हाथ से संस्कारित जल तथा औषधि, सही मात्रा में हल्दी प्रत्येक के पात्र में डालती हैं। पकने पर सभी साधक अपने-अपने पात्र अपनी कोठरी में ले जाकर ग्रहण करते हैं व उसी में संतोष करते हैं। पदार्थ की कारण-शक्ति के माध्यम से अन्तः की चिकित्सा का यह निर्धारित विधान सभी को रुचता भी है। साथ में जड़ी-बूटी का कल्प भी जुड़ जाने से समग्र कायाकल्प की संभावनाएँ सुनिश्चित बन जाती हैं। आहार कल्प एवं जड़ी बूटी कल्प के व्यवहार पक्ष को अलग से समझाया गया है। यहाँ तो मात्र उसका दर्शन एवं कायाकल्प की सुनिश्चितता का स्पष्टीकरण है। हर साधक को अध्यात्म उपचारों को उत्तरार्ध तथा आहार साधना को कल्प का पूर्वार्ध मानना चाहिए।

वैसे कल्प में दुग्ध, मट्ठा अथवा फलाहार किसी भी एक की पूरी छूट है। लेकिन फलाहार की तुलना में शाकाहार कहीं अधिक सस्ता एवं लाभदायक बैठता है। मात्रा का संतुलन भी ऐसा बैठ जाता है कि कुसंस्कारी पाचन संस्थान को नये ढर्रे में ढलने में कोई कठिनाई नहीं होती, 'कल्क' अच्छा बन जाने से नित्य पेट का शोधन होता रहता है तथा उदरशूल, कब्ज, अपच जैसी कठिनाई भी नहीं रहती। वैसे गेहूँ का दलिया अथवा अमृताशन भी एक प्रकार से शाकाहार या फलाहार के समतुल्य ही है। जिसका मनोबल हो वे एक महीने शाकाहार या अमृताशन पर निभा सकते हैं। उनके लिए स्वयं पका लेने के सभी साधन शांतिकुंज में मौजूद हैं। जो खिचड़ी, दाल, चावल, दलिया आदि स्वयं पका सकें, उनके लिए वैसी सुविधा भी उपलब्ध करा दी जाती है। शांतिकुंज के भोजनालय में सबके लिए एक जैसी व्यवस्था है। शाक, कोयला, अँगीठी, बर्तन, दलिया, चावल, दाल आदि सभी वस्तुएँ हर किसी के लिए उपलब्ध हैं जिन्हें जैसी सुविधा हो वे वैसी व्यवस्था कर सकते हैं।

आहार की मात्रा पर इतना ही अंकुश रखा गया है जिससे पेट सर्वथा खाली भी न रहे और उपवास की मर्यादा के अन्तर्गत उसे सीमित मात्रा में खाली भी रखा जा सके। अमृताशन उस आहार को कहते हैं जिसे भगौने में पकाया जा सके। चावल, दाल, दलिया, दूध, खिचड़ी, शाकाहार जैसे उबालकर बनाये जाने वाले सभी पदार्थ अमृताशन की मर्यादा में आते हैं। उन्हें उपवास में सम्मिलित किया जाय और फलाहार समतुल्य माना जाय तो हर्ज नहीं।

आहार पर चढ़े हुए कुसंस्कारों का परिशोधन करने के लिए गौ मूत्र की महत्ता शास्त्रकारों ने बताई है । इन दिनों जिस प्रकार खाद्य पदार्थ उत्पन्न किये जाते हैं उससे उनकी सात्विकता चली जाती है और ऐसे तत्व मिल जाते हैं जिन्हें तामसिक ही कहा जा सकता है । रासायनिक खादों का, सीवर लाइनों की गन्दगी का उपयोग अधिक उपज लेने की दृष्टि से किया जाता है । कीड़े मारने की दवाएँ फल पर व गोदामों में छिड़की जाती हैं । फिर उनके बोने, उगाने वालों के भी अपने संस्कार होते हैं जो खाद्य पदार्थों में मिले होते हैं । फलतः उन पर अदृश्य कुसंस्कारिता छाई रहती है । अध्यात्मवादी का आहार कुसंस्कारिता से रहित होना चाहिए । "जैसा खाये अन्न वैसा बने मन" के प्रतिपादन में साधक की साधना का प्रथम चरण सात्विकता से आरम्भ होता है । सात्विकता का अर्थ सुपाच्य ही नहीं सुसंस्कारी भी है । पकाने–परोसने में भी इस सुसंस्कारिता का समावेश होना चाहिए । वैसी सुविधा न हो तो फिर अपने हाथ ही पकाना उत्तम है । साधक स्वपाकी रहे तो दूसरे के द्वारा पकाए आहार की तुलना में इन दिनों इस सन्दर्भ में अधिक निश्चिन्तता रह सकती है ।

खाद्य पदार्थों को गौ मूत्र से परिशोधन की प्रक्रिया चान्द्रायण की भोजन व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अंग है । जौ, तिल, चावल आदि खाद्य पदार्थ गौ मूत्र में भिगोकर बोने, उगाने, जमा करने की अवधि में चढ़े हुए कुसंस्कारों से मुक्त किया जाता है । सफाई करने से लेकर आटा पीसने, दाल दलाने की आश्रम में निजी व्यवस्था है । बाजार की तुलना में कहीं अधिक मँहगी पड़ती है फिर भी प्रबन्ध यही किया गया है कि भले ही अन्नाहार हो पर उस पर सुसंस्कारिता फलाहार से कहीं अधिक बढ़ी–चढ़ी हो । चान्द्रायण साधना में गौ सान्निध्य का अत्यधिक माहात्म्य बताया जाता है । गौ मूत्र सेवन की भी चर्चा है । इसका प्रतीक रूप में परिपालन कल्प साधना में किया जाता है । पंच गव्य में गौ दुग्ध, गौ दधि, गौ घृत की प्रमुखता रहती है । गौमूत्र की कुछ बूँदें ही सही पर प्रायश्चित परम्परा के अनुसार समावेश उसका भी आंशिक रूप से रहता है । इसके अतिरिक्त जो भी धान्य साधक इस एक महीने की अवधि में सेवन करते है वह सभी गौ मूत्र में भिगोया–भिगोकर गंगाजल से धोया–धोकर सुखाया और सुखाकर आश्रम में ही पीसा गया होता है । बनाने की प्रक्रिया दो ही हैं या तो माताजी के चौके में बना हो या अपने हाथों पकाया गया हो । बाजारू वस्तुएँ खाने,

खरीदने पर पूरी रोक हो । चटोरेपन से लालायित होकर बाजारू चीजें खरीदना-खाना पुरानी आदत को भले ही रुचिकर लगे पर उससे तपश्चर्या की व्यवस्था बिगड़ती है । अपने कक्ष में आहार को करते समय भी यह संयम बनाये रखना अत्यन्त अनिवार्य है ।

उपवास पक्ष पर विचार करते समय यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि पेट को खाली रखना ही मात्र उद्देश्य नहीं है । उसका मूलभूत प्रयोजन सात्विक, सुसंस्कारी, चटोरेपन से रहित आहार अपनाना भी है । पेट पर वजन कितना लदा, कितना हल्कापन रखा गया इस सम्बन्ध में थोड़ी रियायत समय की स्थिति को देखते हुए दी गई है । परिस्थितियों की विवशता, लोगों की स्वल्प तितिक्षा क्षमता को ध्यान में रखते हुए ही यह शिशु या चान्द्रायण जैसा उपक्रम अपनाया गया है । इतने पर भी इस आध्यात्मिक प्रयोजन के निमित्त की गई आहार चिकित्सा में सैद्धांतिक कड़ाई यथावत् कायम रखी गई है । आहार की सात्विकता, सुसंस्कारिता, औषधि स्तर की स्थिति हर हालत में कायम रखी ही जानी चाहिए । चटोरेपन की अभ्यस्त आदत तथा पेट को ठूँस-ठूँस कर गधे की तरह लादे रहने की विद्रूपता तो हर हालत में रोकी या छोड़ी जानी है । इतनी व्रतशीलता अपना लेने पर कल्प साधना की उपवास प्रक्रिया अक्षुण्ण रखी जा सकेगी । भले ही आहार की मात्रा के सम्बन्ध में कुछ शिथिलता सुविधा जुड़ी रहे ।

आयुर्वेदीय कल्प चिकित्सा में कई फल शाकों के कल्प का उल्लेख है । खरबूजा, आम, जामुन, पपीता जैसे सस्ते फलों पर ४० दिन रहकर यह कल्प होते हैं । मँहगे फलों में अनार, मौसमी आदि के रसों पर भी रहा जाता है । सेव, चीकू भी ऐसे ही उपयोगी फलों में हैं । शाकों में टमाटर, तोरई, लौकी भी उस प्रयोजन के लिए उपयोगी होती है । दूध, छाछ के कल्पों का भी विधान है । कल्प काल में कई औषाधियाँ भी सेवन कराई जाती हैं । पर आध्यात्मिक उद्देश्य के लिए कल्पों में एक महीने की अवधि उपरोक्त फलों, शाकों में से किसी एक का चयन करके उसी पर निर्वाह किया जाय तो इससे शरीर शोधन एवं मानसिक भावनात्मक परिष्कार का भी अतिरिक्त लाभ मिलता है ।

तुलसी, शंखपुष्पी, ब्राह्मी, शतावरी, गिलोय, अश्वगंधा जैसी जड़ी बूटियों का भी कल्प कराया जाता है । उनका रस, क्वाथ-कल्प या अर्क बनाकर

पिलाने की प्रक्रिया है । किस–किस औषधि का कल्प कराया जाय, किस रूप में किस मात्रामें उसे दिया जाय यह निर्धारण व्यक्ति विशेष की स्थिति को समझकर उसकी आवश्यकताओं के अनुसार ही किया जा सकता है ।

साधारणतया इस रूप में उपरोक्त औषधियों को एक दिन में सौ ग्राम तक दिया जाता है । अर्क पिलाना हो तो उस रूप में लगभग दस औंस तक औषधियों का सार तत्व पेट में पहुँचाया जा सकता है । औषधि कल्प में फलाहार ऐसा चुना जाता है जो इन औषधियों का सजातीय है । कल्प साधना में मनोबल सम्पन्न साधकों के लिए उनकी स्थिति के अनुसार इस प्रकार के अतिरिक्त कल्पों का भी निर्धारण किया जाता है ।

कल्प अवधि में साधक नित्य गंगाजी जाते हैं । अपने पीने के लिए गंगाजल का पात्र स्वयं भरकर लाते हैं । जब भी पीना हो तो उसी को पीते हैं । इस प्रकार गंगा और गौ का सान्निध्य रहने के अतिरिक्त एक अध्याय गीता एवं प्रज्ञापुराण का सामूहिक पाठ भी होता है । गायत्री के २४ हजार अनुष्ठानों अथवा सवालाख अनुष्ठान का सम्पुट तो साथ–साथ है ही । इस प्रकार गंगा, गौ, गीता और गायत्री के रूप में प्रख्यात अध्यात्म साधना के चारों चरणों को अपनाते रहकर साधक अपनी पवित्रता, प्रखरता एवं प्रगति का पथ प्रशस्त करते हैं । कायाकल्प के विषय में पहले ही कहा जा चुका है कि यह मात्र पुराने अभ्यासों के ढर्रे को बदलकर नवीन जीवनक्रम आरम्भ करना है । शरीर शोधन तो अवश्य होता है पर अन्तः में कायाकल्प व शारीरिक बलिष्ठता में बड़ा अन्तर है । अपना भावी जीवन कष्ट साध्य न हो, निरोग, दीर्घायुष्य काया का आनंद प्राप्त हो, साथ ही आत्मिक प्रगति का प्रयोजन सधा रहे उसी का यह पूर्वाभ्यास है । आहार से श्रेष्ठ और कोई माध्यम इसके लिए नहीं हो सकता । च्यवन, ययाति की तरह यौवन प्राप्ति पुनः हो सकी कि नहीं, इसे नहीं बल्कि जीवनी शक्ति सम्वर्धन एवं नवीन जीवन पद्धति के अभ्यास की दिशाधारा मिल जाने को ही एक माह की साधना का अनुदान, वरदान मानना चाहिए । चिन्तन, शरीर क्रिया, व्यवहार तथा अन्तः का परिपूर्ण काया कल्प ही वास्तविक कल्प साधना है । अनघड़ शरीर व मन इस एक माह में प्राकृतिक जीवन क्रम को आगे भी अपनाने के लिए विवश हो जाय, यही इस आहार साधना का मुख्य उद्देश्य है ।

आन्तरिक परिष्कार का स्वर्ण–सुयोग

उपवास पूर्वक सवालक्ष गायत्री अनुष्ठान प्रायः लोग अपने घरों पर भी करते रहते हैं । उपवास में आमतौर से आधे पेट से अधिक भोजन नहीं किया जाता । पेटू लोगों की बात अलग है जो उपवास जैसी तपश्चर्या को भी मात्र आहार परिवर्तन भर समझते हैं और पेट पर अन्य दिनों की अपेक्षा भी अधिक बोझ लादते हैं । कल्प साधना में आधे पेट भोजन का प्रबन्ध तो हो ही जाता है । ऐसी दशा में चान्द्रायण जैसा स्वरूप नहीं रह जाता जैसा कि शास्त्रकारों ने उसका असाधारण माहात्म्य वर्णन किया है । आहार चिकित्सा की बात हो तो वह भी अन्य प्राकृतिक चिकित्सा पद्धतियों की तरह लोग अपने–अपने काम धन्धे के साथ–साथ करते रह सकते हैं ।

जिस विशेषता के कारण देखने में साधारण किन्तु परिणाम में महान इस तपश्चर्या का माहात्म्य बताया गया है वह है–'आत्मिक कायाकल्प', जिसके निमित्त इस सन्दर्भ में अनेकानेक नियम, संयम एवं विधि–विधानों का निर्धारण हुआ है । उपवास और जप तो उस प्रक्रिया के दृश्यमान शारीरिक क्रिया–प्रक्रिया के रूप में सम्पन्न होने वाले उपचार भर हैं ।

वस्तुतः इस साधना को अध्यात्म कल्प उपचार समझा जाना चाहिए और उसके साथ प्रयोजनों का महत्त्व समझा जाना चाहिए जो उसके साथ चिन्तन और भावना के रूप में अविच्छिन्न रूप में जुड़े हुए हैं । यदि उन पर ध्यान न दिया जाय और केवल शरीरचर्या चलती रहे तो समझना चाहिए कि शास्त्र निर्धारण का एक बहुत छोटा अंश ही पूरा हुआ ।

समझा जाना चाहिए कि अध्यात्म तत्त्वज्ञान भावना एवं विचारणा के क्षेत्र पर प्रयुक्त एवं प्रभावी होता है । वहाँ प्रखरता उत्पन्न हो तो शरीर के क्रिया कलाप अनायास ही उत्कृष्टता युक्त बन जाते हैं । भक्तियोग में भावना क्षेत्र को श्रद्धा तत्त्व से परिपूर्ण बनाया जाता है । योग प्रज्ञा की आराधना है । इन दोनों को उच्चस्तरीय भाव संवेदना एवं उदात्त दृष्टिकोण का उन्नयन अभ्युदय कहा जा सकता है । भक्तियोग, ज्ञानयोग के द्वारा अन्तःकरण एवं विचार संस्थान को अधिक परिष्कृत बनाया जा सके तो कर्मयोग अनायास ही निभने लगता है । शरीर तो वाहन उपकरण भर है । उसे अन्तःप्रेरणाओं के निर्देशन

में काम करना होता है । वह स्वामिभक्त सेवक की तरह सभी भले-बुरे निर्देशनों का पालन करने में सर्वथा तत्पर रहता है ।

कहने को तो कर्मयोग स्थूल शरीर का, ज्ञानयोग सूक्ष्म शरीर का, भक्तियोग कारण शरीर का विषय कहा जाता है, किन्तु थोड़ा गहराई में उतरने पर प्रतीत होता है कि विभाजन की दृष्टि से बनी हुई इस त्रिविध क्रिया-प्रक्रिया का उद्‌गम स्रोत एक ही है-आस्था का परिष्कार । मशीन के दाँतों की तरह एक ही प्रेरणा से दूसरा घूमता है । दूसरे के दबाव से तीसरे में हलचल बन पड़ती है । आस्थाएँ ऊँची हों तो विचार-संस्थान को उनका अनुगमन करना होगा, विचारों का निर्देशन शरीर मानता है । उसे अपने कर्तव्य पालन से कभी विमुख नहीं देखा जाता । समूचे व्यक्तित्व का पवित्रीकरण-प्रखरीकरण ही अध्यात्म तत्वज्ञान एवं साधना विज्ञान का एक मात्र उद्देश्य है । उसी की पूर्ति के लिए विभिन्न प्रकार की दार्शनिक दिशा धाराओं का सृजन हुआ है ।

ब्रह्मविद्या का विशाल कलेवर इसी प्रयोजन की पूर्ति के लिए तत्वदर्शियों ने सृजा है । इसी प्रकार साधना विधान के अन्तर्गत क्रिया-प्रक्रियाओं का उद्देश्य एक ही है-देव जीवन की दृष्टि से हेय समझी जाने वाली मान्यताओं एवं आदतों का निराकरण तथा सदाशयता को स्वभाव में सम्मिलित करने का अभ्यास । पशु प्रवृत्तियों को बदलने के लिये जो भावना और प्रक्रिया का सम्मिलित पुरुषार्थ किया जाता है, उसी को साधना कहते हैं । साधनाकाल में अपना चिंतन तथा व्यवहार ऐसा बनाना पड़ता है जिनके दबाव से व्यक्तित्व की गहन परतों में प्रविष्ठ अभ्यस्त आदतों में अभीष्ट परिवर्तन सम्भव हो सके ।

भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग की त्रिवेणी में अवगाहन करने से ही आत्मिक प्रगति का पथ-प्रशस्त होता है । इन तीनों के स्वप्न देखते रहने से काम नहीं चलता । अध्ययन, श्रवण के माध्यम से मिलने वाले परामर्श इस दिशा में अग्रसर होने की प्रेरणा देते हैं किन्तु इतने भर से पुराना ढाँचा-ढर्रा बदलता नहीं । वह गहरी परतों में अपनी जड़े जमाये बैठा रहता है । फलतः धर्मजीवी व्यक्ति तक हेय जीवन जीते देखे गये हैं । व्यक्तित्व के परिष्कार में साधना उपचार का दबाव पड़े बिना काम नहीं चलता । धातुओं को कोई

रूप देना हो तो उसमें अग्निसंस्कार की अनिवार्य आवश्यकता पड़ेगी । साधना को एक प्रकार से ढाँचे का रूपान्तर कहा जा सकता है । इसके लिए साधना तपश्चर्या को आग–भट्टी के समतुल्य माना जा सकता है ।

कल्प साधना में भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग की त्रिविध क्रिया–प्रक्रियाओं का समन्वय है । गायत्री उपासना एवं ध्यान–धारणा को भक्तियोग समझा जाना चाहिए । स्वाध्याय–सत्संग स्थूल और चिन्तन मनन सूक्ष्म ज्ञानयोग की पूर्ति करता है । व्रत–उपवास के अनुशासक कर्मयोग का अभ्यास कराते हैं । इस समन्वय से तीनों शरीरों को परिष्कृत करने वाली तीन प्रकार की विधि–व्यवस्था के अन्तर्गत समूचे व्यक्तित्व की ढलाई–गलाई होने लगती है । इस समग्र समन्वय की कार्यपद्धति से ही कल्पसाधना का तात्विक प्रयोजन पूर्ण होता है । मात्र उपवास या जप का उपक्रम चलता रहे और हर क्षेत्र को उत्कृष्टता की दिशा में धकेलने वाले अन्यान्य अनुबन्धों की उपेक्षा होती रहे तो समझना चाहिए कि बाह्य कलेवर की ही व्यवस्था बनाई गई है । उसमें प्राणसंचार करने वाली आध्यात्मिक प्रखरता उत्पन्न करने में समर्थ भावनात्मक तपश्चर्याओं का समावेश नहीं किया गया है । सर्वविदित है कि कलेवर कितना ही सुन्दर क्यों न हो, उसमें प्राण नहीं होगा तो अभीष्ट हलचल उत्पन्न होने और परिणति का लाभ मिलने जैसा अवसर ही उत्पन्न न होगा ।

कल्प साधना के साथ जुड़े हुए उपरोक्त तथ्यों को समझने के उपरान्त ही वह सरंजाम जुटाना सम्भव हो सकेगा जिसके फलस्वरूप शास्त्रवर्णित सत्य परिणामों की सम्भावना को प्रत्यक्ष होते हुए देखा जा सकेगा । समग्र व्यवस्था का परिणाम ही समग्र होता है । आवश्यक सभी साधन जुटने पर ही महत्वपूर्ण कार्यों का सूत्र संचालन होता है । रसोई बनानी हो तो आग, बर्तन, खाद्य पदार्थ, पानी आदि सभी चीजें चाहिए । इनमें से किसी एक को पकड़ बैठा जाय तो पेट भरने का सरंजाम किस प्रकार बनेगा । बढ़ई, लुहार, दर्जी, चित्रकार, मूर्तिकार आदि को सभी उपकरण एकत्रित करने पड़ते हैं । यदि उनके हाथ में एक ही औजार हो तो कुछ कारगर निर्माण बन नहीं सकेगा । अकेली सुई लेकर दर्जी, आरी लेकर बढ़ई, हथौड़ा लेकर शिल्पी अपनी कलाकारिता का परिचय दे नहीं सकता । बात तभी बनेगी जब सभी आवश्यक उपकरण जुटाकर समग्र व्यवस्था बनाने की तैयारी चल पड़े ।

कल्प में उपवास की प्रमुखता से किसी को यह नहीं मान लेना चाहिए कि देवता को प्रभावित करने एवं आसमान से वरदान खींच लेने के लिए इतना सा स्वल्प उपचार अपनाने भर से काम चल जायेगा । जितना महत्व शरीर साधना के रूप में उपवास अनुष्ठान का है, उससे कम आवश्यकता श्रद्धा एवं प्रज्ञा को प्रभावित करने वाली उस विधि-व्यवस्था का भी नहीं है जो अन्तःकरण को मथ डालती है, चिंतन की दिशाधारा बदलती है और स्वभाव तथा अभ्यास में क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित करती है ।

इस साधना को कल्प साधना कहा गया है । शरीरगत कल्पचिकित्सा की पृष्ठभूमि अनेकों को विदित है । उसी आधार पर चिंतन और चरित्र को उलट देने वाली प्रक्रिया के सम्बन्ध में अनुमान लगाया जाना चाहिए ।

कायाकल्प के प्रयोग जिनने देखे या सुने-समझे हैं, वे जानते हैं कि रुग्ण, दुर्बल एवं अस्त-व्यस्त काया संस्थान को नये सिरे से सुधारने, सम्भालने की प्रक्रिया 'कल्प' कहलाती है । इसमें पुराने जीवकोशों को हटाकर नये जीव कोशों का ढाँचा नये प्रकार का बन सके ऐसा प्रयत्न किया जाता है । साँप के केंचुली बदलने से इसकी उपमा दी जाती है । साँप पुरानी चमड़ी को किसी पेड़ से अटकाकर बदल देता है और जो नई निकलती है, उसका उपयोग करता है । केंचुल भारी होने पर साँप के लिए दौड़ना तो दूर चलना फिरना तक भारी हो जाता है । किन्तु जब पुराने कलेवर का परित्याग कर दिया जाता है तो उसे नई चमड़ी नई काया की तरह नई स्फूर्ति प्रदान करती है । उसकी शोभा और शक्ति दोनों ही बढ़ा देती है । कल्प चिकित्सा को भी इसी प्रकार के केंचुल बदलने की उपमा देकर समझाया जाता है ।

स्वर्गीय महामना मालवीय जी ने अपनी कल्प चिकित्सा कराई थी । समग्र रूप से न बन पड़ने पर भी बहुत लाभकारी हुई थी । उसकी सुखद परिणति का विवरण उन्होंने पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराया था । इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि आयुर्वेद शास्त्र में उस प्रक्रिया के उपलब्ध होने पर भी सामयिक परिस्थितियों में उसका उपयोग कैसे करना चाहिए इस संदर्भ में कोई ठोस प्रयास नहीं हुए । यदि उन निर्धारणों का पुनरुद्धार सम्भव हो सका होता तो निश्चय ही मनुष्य जाति की महती सेवा बन पड़ती । जरा जीर्ण

ययाति की तरह नवयौवन प्राप्त करने का अवसर मिलता । कितने ही वयोवृद्ध अपनी वृद्धावस्था को नवयौवन में बदल सकते, अशक्तता हटाकर अभिनव सामर्थ्य प्राप्त कर सकने का सौभाग्य कितना सुखद एवं सौभाग्यशाली हो सकता है । आज तो उसकी कल्पना ही की जा सकती है ।

महामना मालवीयजी ने कल्प कराया था तब उन्हें चालीस दिन तक एकान्त पर्णकुटी में रहना पड़ा था । इतने दिनों तक उन्होंने दरवाजा नहीं खोला था ताकि जो परिवर्तन हो रहा है उसे बाहरी वातावरण प्रभावित न करने पाये । शौच, स्नान, भोजन आदि का सारा प्रबन्ध भीतर ही होता था । वे धूप सेवन तक के लिए बाहर नहीं निकले थे । सभी नित्यकर्म उसी बन्द पर्णकुटी में होते थे । इस अवधि में आहार, शयन, औषधि, शारीरिक हलचल के सम्बन्ध में जो अनुबन्ध थे वें विधिवत् पूरे करने पड़े थे । साथ ही सोचने के लिए, कल्पना–आकांक्षा के लिए एक निश्चित सीमा बना दी गई थी कि वे न केवल शरीर को वरन् विचारों को भी उसी परिधि में अपनी दौड़ सीमित रखने के लिए विवश करें । वैसा ही किया गया था ।

उपरोक्त विधान पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि ऐसे उपचारों में अभिनव निर्धारण को जीवनचर्या में पूरी तरह समाविष्ट होने का अवसर दिया जाता है । साथ ही पुरातन अभ्यासों को, बाहरी वातावरण के दबावों को उन दिनों न पड़ने देने की विशेष रूप से रोकथाम की जाती है । महान् परिवर्तन के लिए ऐसा होना स्वाभाविक है ।

भ्रूण को नौ माह तक माता के गर्भ में रहना पड़ता है । अण्डे के कड़े छिलके का आच्छादन उसके भीतरी भाग को चारों से से घेरे रहता है । इससे दोनों प्रकार की आवश्यकताएँ पूरी होती हैं । बाहरी दबाव से बचाव भी और भीतरी क्षेत्र में समयानुसार पकने, परिपक्व होने की सुविधा भी इस आच्छादन से मिलती है । इस संरक्षण के अभाव में न तो गर्भस्थ शिशु का विकास होगा, न अण्डा पकेगा । इसके अतिक्ति एक बात और भी है कि उन्हें बाहरी गर्मी मिलनी चाहिए । अण्डे के ऊपर मुर्गी अपनी छाती लगाये बैठी रहती है और उसे आवश्यक गर्मी प्रदान करके पकने की स्थिति तक पहुँचाती है । पेट के बच्चे को भी माता गर्मी की, आहार की व्यवस्था अपने शरीर अनुदान द्वारा प्रदान करती है । यह भी एक

प्रकार का कायाकल्प ही हुआ । अपनी इस विशिष्ट साधना को भी आत्मिक कल्पसाधना का रूप दिया गया है । उसके लिए सर्वप्रथम उपयुक्त वातावरण की आवश्यकता होती है । ऐसा वातावरण जहाँ अनुपयुक्त वातावरण से बचाव हो सके, उपयुक्त सुविधा तथा अनुभवी मार्गदर्शन उपलब्ध हो एवं उस प्रयास को सफल बना सकने वाला सहयोग अनुदान मिल सकने की व्यवस्था हो । निश्चय ही यह व्यवस्था घर के वातावरण में रहकर सम्भव नहीं हो सकती । अभ्यस्त ढर्रा अनायास ही अपनी ओर खींचता रहता है । पुरानी आदतें तथा स्थानीय समस्याएँ नये प्रयास में मन को पूरी तरह लग सकने जितना अवसर नहीं देतीं । आदतें बदलनी हों तो वातावरण भी बदलना चाहिए । चोरों को जेलखाने में इसीलिए रखा जाता है कि पुराने सम्पर्क एवं कार्यक्षेत्र से अलग रखकर उसे नयी रीति-नीति अपनाने के लिए विवश किया जा सके । जेल प्रतिशोध, उत्पीड़न के लिए नहीं, सभ्य देशों में सुधारगृह की तरह प्रयुक्त की जाती है । यही बात योगियों के वन की गुफा, कन्दराओं में रहकर स्वेच्छापूर्वक एकान्त सेवन वाली व्यवस्था में भी सन्निहित है । वे अपने को नये ढाँचे में ढालना चाहते हैं किन्तु चारों ओर फैला हुआ वातावरण उन्हें अभ्यस्त शिंकजे की जकड़नों से बाहर नहीं निकलने देता । कठिनाई का हल न देखकर वे उतने समय के लिए एकान्त के निमित्त चले जाते हैं जितने में अभ्यस्त ढर्रे को बदलने की मंजिल दूर तक पार न कर ली जाय । गुरुकुल आरण्यकों की शिक्षा पद्धति में भी यही विशेषता है ।

भगवान राम को तप-साधना के लिए अयोध्या छोड़कर हिमालय जाना पड़ा था । चारों भाई गुरु वशिष्ठ की गुफा के इर्द-गिर्द अपनी-अपनी पर्णकुटी बना कर रहे थे । यों अयोध्या में सुविधाजनक निवास की उनके लिए कोई कमी कठिनाई नहीं थी । फिर भी देखा गया कि उस क्षेत्र के साथ जुड़े हुए चिरकालीन सम्बन्ध किसी न किसी बहाने खटपट करते रहेंगे और चित्त में विक्षेप रहने से आन्तरिक परिष्कार के लिए आवश्यक सुविधा जुटेगी नहीं । अस्तु उन्हें लाभ के लिए छोटी हानि उठाने का सिद्धांत अपनाकर वन गमन करना पड़ा । यही परम्परा अन्य ऋषि तपस्वी अपनाते रहे हैं । उन्हें अपनी जन्मभूमि में स्थान

सम्बन्धी असुविधा नहीं थी किन्तु वातावरण घर खींच कर कैसे लाया जाय ? गंगा अपने घर आने के लिए किसी प्रकार सहमत की जाय ऐसा न होकर अपने को ही उसके पास जाना पड़ता है । उच्चस्तरीय साधना के लिए जैसे वातावरण की, साधन–सुविधा की आवश्यकता है उसके लिए अभी भी गंगा की गोद, हिमालय की छाया, सप्त ऋषियों की तपोभूमि एवं उपयुक्त मार्गदर्शन जैसी सुविधाएँ गायत्री तीर्थ जैसे स्थानों में उपलब्ध हो सकती हैं ।

कल्प अवधि का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि उन दिनों का तीर्थ सेवन स्थान की दृष्टि से ही एकान्त न माना जाय वरन् पूर्णतया अन्तर्मुखी रहा जाय । यह समय विशुद्ध रूप से अन्तर्जगत में प्रवेश करने का है । इसमें अन्तराल की आत्मसत्ता का अति गम्भीरतापूर्वक निरीक्षण परीक्षण किया जाय । जो अवांछनीयताएँ स्वभाव का अंग बन गई हैं उनके दुष्परिणामों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय और देखा जाय कि सामान्य सी लगने वाली ये छोटी–छोटी दुष्प्रवृत्तियाँ कितनी विघातक होती हैं । लकड़ी में घुन, कपड़े में आग, शरीर में विष की मात्रा थोड़ी होने पर भी वे जहाँ बसते हैं, वहाँ धीरे–धीरे विनाशलीला रचते रहते हैं और अन्ततः सर्वनाश करके छोड़ते हैं । इस कुसंस्कारिता की गंदगी को हर कोने में बुहार–बुहार कर इकट्ठी करना और ऐसे स्थान पर पटकने की बात सोचना चाहिए जहाँ से उसकी फिर वापसी न होने पाए । कल्पसाधना के दिनों में अन्तर्मुखी होकर यह बुहारने का काम रुचिपूर्वक किया जाना चाहिए । साथ ही शेष आधा चिन्तन इस तथ्य पर नियोजित रखना चाहिए कि जिन सत्प्रवृत्तियों का संचय सम्वर्धन अभी तक नहीं किया जा सका उनकी पूर्ति के लिए दूरगामी योजना बना ली जाय और उसका शुभारम्भ इन्हीं दिनों में व्रतशील होकर कर दिया जाय ।

आत्म निरीक्षण, आत्मसुधार, आत्मनिर्माण एवं आत्मविकास के चार चरण आत्मिक प्रगति के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए है । मनः संस्थान एवं भाव संस्थान को इन दिनों पूरी तरह उसी क्षेत्र को सुव्यवस्थित एवं उज्ज्वल सम्भावनाओं से भरा पूरा बनाने में निरत रखा जाना चाहिए । उपवास, अनुष्ठान एवं आहार कल्प तो साथ–साथ चलता ही रहेगा ।

अन्तर्मुखी प्रवृत्ति और निरन्तर आत्म-दर्शन

आयुर्वेदीय कल्प प्रक्रिया में सर्वप्रथम वमन, विरेचन, स्वेदन, नस्य आदि के माध्यम से संचित मलों को बाहर निकाला जाता है । इस परिशोधन के उपरान्त शरीरगत मलीनताओं का भार हल्का पड़ता है, नये उपचार की पृष्ठभूमि बनती है । ऐसा न करने पर इस उपचार का लाभ शरीर को मिलने के स्थान पर जलती आग में पड़ने वाले ईंधन की तरह भस्म हाथ लगने के अतिरिक्त और कुछ पल्ले नहीं पड़ता । खाई पाटकर ही पार जाया जा सकता है अन्यथा सारा प्रयत्न उस खंदक से जूझने में ही समाप्त होता रहेगा ।

आध्यात्मिक कल्प चिकित्सा के आरम्भ में दो काम करने पड़ते हैं । एक तो अपनी चिन्ताओं, समस्याओं, कठिनाइयों, कामना, अभिलाषाओं को विस्तारपूर्वक लिखकर मार्गदर्शक के सम्मुख प्रस्तुत कर देना पड़ता है, ताकि उन्हीं बातों को बताने, पूछने का ताना-बाना न बुनते रहकर जो कहना है वह एक बार में ही कह लिया जाय । इससे भौतिक प्रयोजनों में मन हल्का होने पर अन्तर्मुखी बनना और उद्देश्य का तारतम्य बिठाना सम्भव हो जाता है ।

दूसरी बात वह उगलनी होती है जिसमें अपने क्रियमाण दुष्कृत्यों का उल्लेख होता है । चान्द्रायण की तरह कल्प साधना में भी प्रायश्चित्त पूरा करना होता है । यही अवरोध हैं जो न तो साधना को सफल होने देते हैं, न ही कष्ट-कठिनाइयों से छूटने के लिए किये जा रहे प्रयासों को कारगर होने देते हैं । सृष्टा की कर्म व्यवस्था सुनिश्चित है । वह स्वसंचालित पद्धति से क्रिया की प्रतिक्रिया उत्पन्न करती रहती है । पाप-कृत्यों से कुसंस्कार बढ़ते हैं, कुसंस्कारों से स्वभाव में उद्दण्डता आती है, उद्धत स्वभाव से आचरण में दुष्टता बढ़ती है । उसके फलस्वरूप भीतर से रोग-शोक उभरते हैं और बाहर से असहयोग, तिरस्कार एवं रोष-प्रतिशोध की प्रताड़नाएँ बरसती रहती हैं । यही है पाप कर्मों की स्वसंचालित दण्ड व्यवस्था जो अपने लिए स्वयं ही यमदूत उत्पन्न करती है और नशा पीकर नाली में गिरने, खाकर वमन करने, फाँसी लगाकर बेमौत मरने की तरह किये हुए दुष्कृत्यों का प्रकारान्तर से दण्ड प्रस्तुत करती रहती हैं । इस जंजाल की जकड़न से

ऊँचा उठने और बढ़ने की बात बनती ही नहीं । इसलिए उनका निराकरण करना ही बुद्धिमत्ता है । आँख में पड़े हुए तिनके और पैर में धँसे हुए काँटे को निकाल देने में ही समझदारी है । पके फोड़े का मवाद जितनी जल्दी निकल जायेगा उतनी ही सुविधा रहेगी । पापों का प्रायश्चित भी एक आवश्यक कृत्य है । अध्यात्म मार्ग पर चलने वाले इस भार को उतारने और हलके-फुलके प्रगति-पथ पर अग्रसर होने की दूरदर्शिता अपनाते हैं ।

इसके लिए भी अपनी स्मृति के सभी दुष्कृत्यों को विस्तारपूर्वक घटनाक्रमों तथा उनके साथ जुड़ी हुई परिस्थितियों के साथ मौखिक या लिखित रूप से मार्गदर्शक की जानकारी में लाते हैं । इसी आधार पर पाप कर्मों के भारी-हल्के होने का और तदनुरूप परिशोधन प्रायश्चित की विधि-व्यवस्था का निर्धारण बन पड़ता है ।

यही आध्यात्मिक वमन, विरेचन है, जिससे मानसिक सफाई का काम हलका हो जाता है । अपनी ओर से बात पूरी कर देने पर दूसरे पक्ष का ही काम शेष रहता है । क्या उपाय करना है ? क्या हल निकालना है ? इसके लिए प्रतीक्षा भी की जा सकती है । अपना पक्ष प्रस्तुत कर देने के उपरान्त साधक की मानसिक स्थिति ऐसी बन जाती है जिसमें कल्पसाधना के मूलभूत उद्देश्य अन्तर्मुखी होकर आत्म-शोधन से लेकर आत्म-साक्षात्कार तक की लम्बी प्रक्रिया में तन्मयता एवं तत्परतापूर्वक जुटा जा सकता है ।

घर से बाहर अन्यत्र जाकर किसी तीर्थ की पवित्र भूमि में मर्यादाओं की व्रतशीलता में अपने आप को बाँधकर ही इस प्रकार की तपश्चर्याएँ सही रीति से सम्पन्न होती हैं । अन्यथा उलझे वातावरण में उद्विग्न चित्त से खीजते-खिजाते किसी प्रकार चिह्न पूजा कर लेने से काम तो क्या, कोई भी साधना उपक्रम सफल नहीं होता । कुछ रोग ऐसे होते हैं जिनमें डॉक्टर से परामर्श लेते रहने और घर पर दवा खाते रहने से भी काम चल जाता है, पर कुछ में अस्पताल में भर्ती होने से ही बात बनती है । बड़े आपरेशन घर पर नहीं कराये जा सकते, उसके लिए आवश्यक उपकरण-साधन तथा हर योग्यता के डॉक्टर, सर्जन, सहायक हर समय उपलब्ध नहीं हो सकते । यह सुविधाएँ अस्तपाल में ही होती है । बड़े उद्देश्यों की पूर्ति के लिए तदनुरूप ही व्यवस्था बननी चाहिए । घर पर

रहकर या अन्यत्र यह साधना करनी हो, तब भी उपरोक्त आवश्यकताओं की पूर्ति की बात तो ध्यान में रखी ही जानी चाहिए । साधना स्थल की परिस्थिति एवं साधक की मनःस्थिति दोनों ही सुविधाएँ समुचित स्तर की रहने पर ही सांसारिक एवं आध्यात्मिक प्रयोजनों की पूर्णता सधती है ।

इस स्तर की साधनाओं के लिए किस प्रकार की बाह्य व्यवस्था होनी चाहिए उसके लिए एक ऐसा उदाहरण है जिससे कुछ प्रेरणा मिलती है और इस क्षेत्र की पुरातन परम्पराओं का पता चलता है । त्रिवेणी तट पर माघ मास में एक महीने का कल्पवास होता है । साधक वहाँ कुटी बनाकर रहते हैं । पूरा महीना संगम की रेती में ही व्यतीत करते हैं । उस परिधि से बाहर कहीं नहीं जाते । घर की घटनाओं में न तो दिलचस्पी लेते हैं और न आने-जाने की चिट्ठी पत्रों का सिलसिला चलाते हैं । इस प्रतिबन्ध से उन्हें एकान्त का, एकाग्रता का, आत्म चिन्तन का लाभ मिलता है । इतना अंश ठीक है । इसके साथ ही यदि साधना का निर्धारण एवं मार्गदर्शन भी उनके स्तर एवं उद्देश्य के अनुरूप रहा होता तो सोने में सुगन्ध की बात बनती । फिर भी इससे इतना तो पता चलता ही है कि साधक को साधना के प्रति कितना गम्भीर, कितना श्रद्धालु, कितना व्रतशील होना चाहिए । इस सबकी उपेक्षा करके मनमौजी सैलानियों की तरह कौतुक-कौतूहल मानकर साधना से उपचार ज्यों-त्यों करके आधे-अधूरे अपनाये जाएँ तो उस विडम्बना से कुछ बात बनती नहीं । उल्टे निराशाजन्य खीज ही उत्पन्न होती है ।

सूरत में मोटा महाराज का आश्रम भी इसी परम्परा के अनुरूप चलता है । व्रज चौरासी कोस परिक्रमा के यात्री भी आदि से अन्त तक संकल्पित तितिक्षाओं का पालन करते हैं । वृन्दावन के 'टट्टिया आश्रम' में बाँस की टट्टी का बाड़ा बना हुआ है । साधक उस बाड़े की परिधि में ही रहते हैं । बाहर नहीं जाते । इस अनुबन्ध का मूल उद्देश्य एक ही है कि साधकों की मानसिक परिधि भी निर्धारित सीमा-मर्यादा में ही केन्द्रित रहे, बन्दर की तरह इधर-उधर उछल कूद न मचाये । योगिराज अरविन्द ने इसी प्रकार का कुटी प्रवेश किया था । निजी साधना में तो और भी ऐसे कितने ही तपस्वी हैं जो जीवन की निर्धारित परिधि में ही केन्द्रीभूत

रहते हैं । न शरीर को इधर-उधर मचलने-भटकने देते हैं और न मन को ही आवारागर्दी में भटकने की छूट देते हैं । उच्चस्तरीय साधनाओं में यही नीति अपनाई जानी चाहिए । कल्प साधकों की साधना अवधि एक महीने की हो या दस दिन की, उन्हें परिपूर्ण श्रद्धा के साथ उसी प्रयोजन में तन्मय होना चाहिए, शरीर एवं मन को जहाँ-तहाँ भटकने न देकर अन्तर्जगत में ही सीमाबद्ध रहने में निरत रखना चाहिए । गुफा प्रवेश की समाधि साधना जैसा स्तर बना कर ही इस अवधि को पूर्ण करना चाहिए । यदि अवधि बढ़ायी जा सके तो और भी अधिक लाभ मिलते हैं ।

आत्म साक्षात्कार, आत्म दर्शन, आत्म बोध आदि की अध्यात्म शास्त्रों में भाव भरी चर्चा है । भगवान बुद्ध को जिस बट वृक्ष के नीचे आत्म बोध हुआ था, उसे 'बोधिवृक्ष' नाम दिया गया, देवतुल्य पूजा गया एवं उसकी टहनियाँ काटकर संसार भर के बौद्ध धर्मानुयायी ले गये और अपने-अपने यहाँ उसकी स्थापना करके वैसे ही देवात्मा बोधिवृक्ष उगाये । यहाँ चर्चा वृक्ष विशेष की नहीं हो रही है वरन् यह कहा जा रहा है कि आत्मबोध, आत्मदर्शन ही उच्चस्तरीय देव वरदान है । जिसे उसकी उपलब्धि जिस अनुपात में हो गई समझना चाहिए कि वह उतना ही बड़ा श्रेयाधिकारी बन गया ।

सभी देव मानवों की अन्तःस्थिति यही रही है । इनने अपने को जाना, समझा है और आत्म गौरव को प्रमुखता देकर तद्नुरूप जीवनचर्या का निर्धारण किया है । इतने भर से आगे की सारी बात बन जाती है । सही दिशा में प्रवाह चल पड़े तो अन्ततः उसकी समाप्ति समुद्र मिलन के रूप में ही होगी । जिन्हें भव बन्धनों का, समस्त संकटों का, हनन-पराभवों का आधारभूत कारण माना गया है वे और कुछ नहीं मात्र आत्म-विस्मृति के रूप में, निकृष्ट दृष्टिकोण के रूप में अन्तराल पर चढ़े कुसंस्कारी कषाय कल्मष भर हैं ।

अपने आपको विस्मृत कर देने के उपरान्त फिर भटकाव ही भटकाव शेष रहता है । कस्तूरी मृग की निराशा और मृगतृष्णा की थकान की कथा प्रसंगों में बार-बार चर्चा होती रहती है । सियारों के झुण्ड में पले सिंह शावक का जल में परछाई देखकर आत्म-बोध होने पर पिछला स्वभाव तत्काल बदल देने वाला दृष्टान्त सभी ने सुना है । इस उद्धरण में

उपनिषदकार का वही उद्‌बोधन झाँकता है जिसमें 'आत्मावत्तरे ज्ञातव्य..........' आदि की हुँकार है । गीताकार का मन्तव्य है 'उद्धरेत आत्मनात्मानं..........' यह आत्मदर्शन ही प्रकारान्तर से ईश्वर दर्शन है । इसी उपलब्धि को जीवन मुक्ति कहा गया है । जीवन लक्ष्य का चरम बिन्दु यहीं पहुँचने पर समाप्त होता है ।

आत्म दर्शन शब्द रहस्यवादियों के जाल जंजाल में फँसकर कुछ ऐसा बन गया है मानो किसी जादुई दृश्य को देखने और आश्चर्यचकित रह जाने जैसे कौतुक भरी स्थिति–परिस्थिति की चर्चा की जा रही हो । अनुमान लगता है कि आत्मा कोई अद्‌भुत आकृति की अन्तरिक्ष वासिनी देवी होगी जो बिजली की तरह साधक को अपनी छवि दिखाने के साथ–साथ वरदानों का पिटारा साधक पर उड़ेल कर फिर आकाश में विलुप्त हो जाती होगी । इन बाल कल्पनाओं के लिए तो कोई क्या कहे ? पर जिन्हें तत्वदर्शन समझने का, ब्रह्म विद्या के प्रतिपादनों में प्रवेश करने का अवसर मिला है, उन्हें इस तथ्य को समझने में कहीं कोई भ्रम नहीं होना चाहिए कि अदृश्य आत्मा का दृश्यमान स्वरूप जीवन ही है । उसी को आत्मसत्ता के रूप में, व्यक्तित्व की समग्रता के रूप में देखा–समझा जा सकता है । आत्म साधना का तात्पर्य है–जीवन साधना । निराकार आत्मा का यही साकार रूप है । आत्मदेव को सर्वोपरि देव कहा गया है । उसकी तुलना कल्पवृक्ष से की गई है और कहा गया है कि उसकी आराधना करने वाले की सभी मनोवाँछाएँ पूर्ण होकर रहती हैं ।

वेदान्त दर्शन में आत्मा को ब्रह्म कहा गया है । 'अयमात्मा ब्रह्म–तत्वमसि प्रज्ञानं ब्रह्म–सच्चिदानन्दोऽहम्–शिवोऽहम्' आदि सूत्र संकेतों में इसी तथ्य का प्रतिपादन है कि अपना परिष्कृत आपा ही सुविकसित, सुसंस्कृत स्थिति में पहुँचने पर परब्रह्म की, परमात्मा की भूमिका निभाने लगता है । नर पिशाच, नर पशु, नर कीटक की स्थिति तभी तक रहती है जब तक साधक को अपने आपका बोध नहीं होता ।

जब 'स्व' शरीर तक सीमाबद्ध हो जाता है तब आकांक्षाएँ, विचारणाएँ, गतिविधियाँ भी काय कलेवर की शोभा सुविधा बढ़ाने में ही निरत रहने लगती हैं । विलास, वैभव ही इष्ट बन जाता है । वासना, तृष्णा और अहंता की

पूर्ति के लिए ही समूची प्रतिभा नियोजित रहती है । कई बार तो यह लिप्साएँ इतनी आकुल-व्याकुल हो उठती हैं कि नीति-मर्यादा के औचित्य अनुशासन का उल्लंघन करने में तनिक भी संकोच नहीं होता ।

दुनियादारी पर छाई रहने वाली इस दुर्बुद्धिजन्य दुर्गति से उबरने में वेदान्त शिक्षा ही समर्थ नौका का काम देती है । उस तत्व दर्शन को अपनाने से आत्म-बोध उभरता है । अपनी स्थिति का सही ज्ञान होता है और लगता है कि अज्ञान आच्छादन से छुटकारा पाना ही परम पुरुषार्थ है । यही जीवन लक्ष्य भी है । मुक्ति के नाम से इसी स्थिति की सुखद सम्भावनाएँ शास्त्रकारों ने सुविस्तृत विवेचना एवं आकर्षक अलंकारिक भाव संवेदना के साथ प्रस्तुत की हैं ।

आत्मबोध को आत्मदर्शन का पुरुषार्थ कहा गया है । यही चरम सौभाग्य भी है । इसी एक साधना के सधने से असंख्य विपत्तियों से छुटकारा मिलता है और समस्त सिद्धियों का द्वार खुलता है । ब्रह्म विद्या की उपनिषद् चर्चा में अनेकानेक तर्कों, तथ्यों, मार्गदर्शक प्रमाणों व उपचार को प्रस्तुत करते हुए श्रेयार्थी को एक ही शिक्षा, एक ही प्रेरणा की गयी है कि वह माया बन्धनों से मुक्त होने का प्रयत्न करे । माया अर्थात् अपने को शरीर मानने की, उसी की वासना तृष्णा में पिसने की लिप्सा शरीर सम्बन्धियों को भी इसी परिधि में गिनकर व्यक्ति गूलर के फलों की तरह इसी संकीर्णता की कीच में सड़ता-गलता रहता है । इसी नरक दल-दल से उबरने, उछलने की साहसिकता, दूरदर्शिता उभारने के लिए ही कई प्रकार के योगाभ्यास तप साधन किए जाते हैं । स्वाध्याय, सत्संग, चिंतन, मनन के चारों प्रयोग उपचार इसी एक आवश्यकता की पूर्ति में नियोजित किए जाते हैं ।

आध्यात्मिक कल्प के दिनों में साधक का समूचा चिंतन इस एक ही तथ्य के इर्द-गिर्द भ्रमण करना चाहिए कि वह शरीर नहीं आत्मा है । वह ब्रह्म लोक का निवासी है । वही उसका घर परिवार है । यहाँ तो मेले-ठेले का प्रबन्ध करने, अपव्यय को व्यवस्था में बदलने के विशेष उद्देश्य के लिए उसकी सुरक्षा रखना भर उसका कर्तव्य है । इन्द्रिय लिप्सा और मनोगत तृष्णा तो छलावा भर है । वास्तविक हित साधन तो

आत्मा की आवश्यकता पूरी करने के लिए पुरुषार्थ करने में है । इस स्तर का चिंतन निरंतर जारी रखा जाय । शरीर से आत्मा की भिन्नता को पढ़ने, रटने से काम नहीं चलता । उसकी अनुभूति उभरनी चाहिए । इसके लिए एक ही स्तर की दृश्यावली कल्पना क्षेत्र पर छाई रहनी चाहिए–आत्मा और शरीर की भिन्नता तथा दोनों की अपने–अपने ढंग की आवश्यकता । दोनों के बीच दूरदर्शी ताल–मेल बिठाने वाली 'महाप्रज्ञा' की भाव भूमि का, चान्द्रायण अवधि में इसी वेदान्त प्रतिपादित आत्मानुभूति का, अभ्यास करते रहना चाहिए । इसके लिए कोई नियत समय निर्धारित करने की आवश्यकता नहीं है । काम करते, चलते–फिरते विभिन्न उदाहरणों को अपनाकर इस अनुभूति को उभारने, परिपक्व करने का प्रयत्न करना चाहिए ।

वाहन, सेवक, उपकरण, वस्त्र आदि की उपमा शरीर की और स्वामी, प्रयोक्ता की स्थिति आत्मा की समझी जाने लगे तो समझना चाहिए कि आत्मदर्शन का आलोक उभरा । इस अनुभूति के साथ ही वे तथ्य भी प्रकट होते हैं जिनमें अपना स्थाई निवास ब्रह्मलोक में होने का प्रतिपादन है । उत्कृष्टता की भाव–भूमिका में होने की बात पर विश्वास जमता है, साथ ही इस निष्कर्ष पर पहुँचने में भी कठिनाई नहीं होती कि शरीर को उपयुक्त पोषण और आत्मा को उबारने का अवसर मिलना चाहिए । यह सब कैसे बन पड़े ? इसका निर्धारण दूरदर्शी–विवेकशीलता, महाप्रज्ञा का अवलम्बन लेने से ही शक्य होता है ।

बड़ी समस्यायें सामने आने पर उनका स्वरूप समझने, संभावनाओं का अनुमान लगाने, हल करने का उपाय खोजने, सहयोग और साधन जुटाने के सम्बन्ध में कई प्रकार से ताना–बाना बुनना पड़ता है । तब कुछ कामचलाऊ रास्ता निकलता है । चुनाव में खड़े होने वाले उम्मीदवार वोट पाने के लिए अनेक उपाय सोचते हैं और अनेक उपाय अपनाते हैं । जीवन की सबसे बड़ी बाजी जीतने का इन दिनों यही आधार समझा जाना चाहिए कि आत्मबोध की न केवल झाँकी, कल्पना उभरती रहे वरन् स्थिति उस स्तर तक पहुँचे कि मान्यता की परिपक्वता अर्थात अपने को आत्मा के रूप में शरीर से भिन्न देखने का अनुभव अभ्यास भी परिपक्व होने लगे ।

आत्मोत्कर्ष की यह भाव संवेदना जिस अनुपात में उभरेगी, उतना ही यह विश्वास बढ़ेगा कि आत्मा और परमात्मा का संयुक्त समन्वय जीवन सम्पदा के रूप में प्रत्यक्ष है । उसके श्रेष्ठतम सदुपयोग की योजना बनाना और कार्यान्वित करना यही ही वेदान्त साधना है और यही है आत्मदेव की यथार्थवादी आराधना–अभ्यर्थना ।

वेदान्त चिन्तन का समुद्र मंथन चलते रहने पर उससे जिस सर्वोपरि उपहार–अनुदान की उपलब्धि होती है उसे अमृत कहते हैं । मंथन अर्थात् आत्मबोध अर्थात् जीवन सम्पदा की उच्चस्तरीय ईश्वरीय अनुदान के रूप में मान्यता । इसका श्रेष्ठतम सदुपयोग कैसे बन पड़े इसी के चिन्तन, मन्थन और निर्धारण को ब्रह्म विद्या का सारतत्व समझा जाना चाहिए । कल्प की अवधि में चेतना को एक ही समस्या को समझाने में जुटाये रहना चाहिए कि आत्मा की, उसके दृश्यमान प्रतिनिधि जीवन की 'आत्मदेव' की अभ्यर्थना कैसे की जाय और उस कल्प वृक्ष के नीचे बैठकर ऋद्धि–सिद्धियों का अनन्त वैभव वरदान किस प्रकार पाया जाए ।

साधक महाप्रज्ञा गायत्री का अनुष्ठान सवालक्ष का इस अवधि में करते ही हैं । अनुष्ठान में जप के साथ चिन्तन, आत्मनिर्देशन, दिशाचयन, लक्ष्य प्राप्ति की तीव्र जिज्ञासा का भाव–भरा समावेश है । इससे कम में अनुष्ठान पूर्ण हुआ माना नहीं जाना चाहिए । मात्र मुँह से जप लेना, मनके घुमा लेना, किसी तरह ४–५ घण्टे की अवधि काट लेना तो एक प्रकार से सिर पर आई बला को टालना है । चिन्तन को सुनियोजित बनाकर लक्ष्य के साथ जब तादात्म्य हुआ जाता है तो स्वयं ही अपना व्यक्तित्व उस साँचे में ढलने लगता है जो कल्प साधना की अंतिम परिणति होना चाहिए । उपासना साकार हो या निराकार अनुष्ठान के साथ जुड़े चिन्तन पर उसकी सफलता निर्भर करती है । पूरे एक माह की अवधि में व्यक्ति अधिकाधिक अपने अन्तः को बदलने में समर्थ हो सके इसके लिए निरन्तर आत्मदर्शन एवं आत्ममुखी चिन्तन को प्रधानता देनी होगी । स्वाध्याय के साथ सोद्देश्य चिन्तन प्रधान अनुष्ठान साधना के प्रतिफल अत्यधिक महत्वपूर्ण होते हैं, साधक कृतकृत्य होता है एवं अपनी जीवन धारा को नये ही पड़ाव पर पाता है ।

जीवन–साधना में संयमशीलता का समावेश

'हर दिन नया जन्म और हर रात नया मरण'–मानकर चलने से जीवन सम्पदा के सदुपयोग के लिए अन्तः प्रेरणा उभरती है । इसलिए हर साधक को विशेषतया कल्प प्रक्रिया में निरत श्रेयार्थियों को इस साधना को अनिवार्य रूप से अपनाना चाहिए । यह साधना वस्तुतः जीवन को एक नयी दिशा देने वाली साधना है । प्रातःकाल नींद खुलते ही नया जन्म होने की कल्पना जगाई जाय, भावना उभारी जाय । साथ ही यह भी सोचा जाय कि मात्र एक दिन के लिए मिले इस सुयोग–सौभाग्य का श्रेष्ठतम सदुपयोग किस प्रकार किया जाय । कुछ समय इसी सोच विचार में लगाने के उपरान्त बिस्तर छोड़कर उठना चाहिए और नित्य कर्म से निवृत्त होने के लिए जाना चाहिए ।

ठीक इसी प्रकार रात्रि को सोते समय यह विचार करना चाहिए कि निद्रा एक प्रकार की मृत्यु है । अब मरण की गोद में जाया जा रहा है । मृत्यु के उपरान्त प्राणी ईश्वर के दरबार में पहुँचता है । पहुँचते ही तत्काल पूछताछ होती है । इस पूछताछ का एक ही विषय होता है–"सुर दुर्लभ मनुष्य जीवन किस प्रयोजन के लिए दिया गया था ? उसका उपयोग किस प्रकार किया गया ? इसका विवरण दिया जाय ।" इस विवरण को शानदार ढंग से शिर उठाकर दिया जा सके ताकि उससे परलोक का अधिष्ठाता संतोष व्यक्त कर सके, अगली बार कुछ बड़ा पद उत्तरदायित्व सौंपने का विचार कर सके । यही है वह भविष्य–चिन्तन जिसे रात्रि को सोते समय तब तक करते ही रहना चाहिए जब तक कि निद्रा स्वयं आकर अपने अंचल से ढक न ले ।

उठते समय की उपरोक्त साधना को 'आत्मबोध' और सोते समय वाले चिन्तन को 'तत्वबोध' कहा गया है । यह दोनों देखने, कहने, सुनने एवं करने में अत्यन्त साधारण जैसी लगती हैं किन्तु यदि चिह्न पूजा की तरह उसकी लकीर न पीटी जाय और गम्भीरतापूर्वक उन विचारणाओं की परिणति एवं फलश्रुति पर विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि इस बीज का विकास–विस्तार विशालकाय वट वृक्ष के रूप में होता है । चिनगारी

तनिक-सी होती है किन्तु उसे ईंधन की सुविधा मिल सके तो उसे प्रचण्ड दावानल बनते और योजनों लम्बा वन प्रदेश उदरस्थ करते देर नहीं लगती । आँख से न दीख पड़ने वाला, बाल की नोंक से भी कम विस्तार वाला शुक्राणु जब नौ महीने जितने स्वल्प काल में एक अच्छा खासा शिशु बनकर प्रकट होता है तो कोई कारण नहीं कि उपरोक्त विचार द्वय समुचित परिपोषण पाने पर जीवन को देवत्व से लपेट देने वाले वरदान सौभाग्य के रूप में प्रकट विकसित न हो सकें ।

जन्म के उपरान्त जीवन सम्पदा के उपयोग का अवसर मिलता है और मरण के उपरान्त ईश्वर की न्याय-दीर्घा में खड़े होकर कृत्यों का परिणाम भुगतने के लिए विवश होना पड़ता है । इन दोनों का सामना न करना पड़े, ऐसा बचाव किसी भी मनुष्य शरीरधारी के लिए सम्भव नहीं । अस्तु, उनका सामना करने के लिए मनोभूमि बनाने एवं तैयारी करने में ही बुद्धिमत्ता है । चिन्तन-चेतना के इस संदर्भ में उपेक्षा नहीं बरतनी चाहिए वरन् जो अवश्यम्भावी है उसके लिए समय रहते जागरूकता बरतने एवं तत्परता अपनाने में ही दूरदर्शिता है ।

इस तथ्य को जितनी गम्भीरतापूर्वक समझा जाय उतना ही अच्छा है कि उपलब्ध मनुष्य जीवन, ईश्वर का सर्वोपरि उपहार है । उसमें आत्मोत्कर्ष की समस्त सम्भावनायें भरी पड़ी हैं । साथ ही ईश्वर को प्रसन्न करने तथा उस अनुकम्पा के आधार पर कुछ पाने का यही ठीक अवसर है । इसे महत्वहीन न समझा जाय । उसे भार की तरह न ढोया जाय । इस अलभ्य सौभाग्य को अस्त-व्यस्त प्रयोजनों में न गँवाया जाय । बुद्धिमत्ता इसी में है कि संयोगवश आरम्भ में उगे कल्प-वृक्ष को ठीक तरह सींचा-पोसा जाय, प्रतिकूलताओं से बचाया जाय और उसे विकसित स्थिति तक पहुँचाया जाय जिससे उसकी सुखद छाया में बैठने और अभीष्ट वरदान पाने का सौभाग्य बरसने लगे । अज्ञानग्रस्त इस अलभ्य अवसर का न मूल्यांकन कर पाते हैं और न उसके सदुपयोग की कोई योजना-व्यवस्था बनाते हैं । फलतः अनाड़ी के हाथ पड़े हुए हीरक हार की तरह उसके साथ खिलवाड़ होती और धागे टूटने, मनके बिखरने जैसी विडम्बना बनती रहती है । इससे बड़ी दुर्भाग्यभरी दुर्घटना और नहीं हो सकती कि जीवन का महत्त्व न समझा

जा सके उसका मूल्यांकन न बन पड़े और किसी प्रकार मौत के दिन पूरे कर लेने के अतिरिक्त और कुछ पल्ले न पड़े । पेट–प्रजनन में व्यस्त रहना तो तुच्छ प्राणियों को क्रियाशील रखने वाला प्रकृति का हण्टर भर है । वह तो हर योनि में पड़ता ही रहा है, भविष्य में जन्म लेना पड़े तो उनमें भी यह सटापट बरसेगा ही । मानवी बुद्धिमत्ता की सार्थकता इसमें है कि वह इस अलभ्य अवसर का सौभाग्यमय सदुपयोग समझें । इस निष्कर्ष पर पहुँचाकर उस मार्ग पर चलायं जिसके आधार पर वर्तमान को समुन्नत और भविष्य को उज्ज्वल बनाया जा सकना सम्भव हो सकता है । इसके लिए उपयुक्त दिशाधारा का सुनिश्चित निर्धारण बन पड़े तो ही प्रस्तुत सौभाग्य से लाभान्वित हो सकना सम्भव है । देखना यही है कि प्रस्तुत कल्प साधना को जीवन में एक महान् मोड़ दे सकने वाली प्रखरता से सम्पन्न बनाया जा सका या नहीं ।

साधकों को अनुभव करना चाहिए कि वे इस अवधि में माता के गर्भ में निवास कर रहे हैं और ऐसा आवश्यक पोषण प्राप्त कर रहे हैं जिसके सहारे जन्म लेने के उपरान्त समूचे जीवन का श्रेष्ठतम सदुपयोग कर सकने में समर्थ हो सकें । गुरु–गृह को भी माता के गर्भ के सदृश्य माना गया है । साधक की इन दिनों मान्यता ऐसी ही होनी चाहिए । ऊषाकाल, रात्रि की विदाई और दिनमान की अगवानी करता है । कल्प साधना की अवधि में ऐसी ही अनुभूति होनी चाहिए कि नर पशु का स्तर त्यागने और देव स्तर में प्रवेश करने का यही ऊषाकाल है । इन्हीं क्षणों में महान् परिवर्तन की सम्भावना बन रही है । सघन संव्याप्त तमिस्रा का पलायन और समूचे आकाश में प्रभात का प्रकाश वितरण सचमुच ही आश्चर्य है । इतने थोड़े क्षणों में इतना महान् परिवर्तन देखते हुए लगता है ऊषाकाल की प्रभात बेला कितनी अद्भुत, कितनी सशक्त एवं कितनी सौभाग्यशाली है, इसी प्रकार चान्द्रायण तपश्चर्या की भूमिका भी ऐसी ही होनी चाहिए जिसे कर्त्ता का अभिनव भाग्योदय कहकर शेष सारा जीवन सराहा और स्मरण रखा जा सके ।

पर यह सम्भव तभी है जब साधक इन दिनों अपनी भाव भूमिका को गतिशील रखे और पराक्रम की चरम सीमा तक पहुँचे । यों माता भी भ्रूण

को बहुत कुछ देती है, पर उसे भ्रूण के निजी पुरुषार्थ की तुलना में नगण्य ही कहा जा सकता है। शरीर शास्त्री जानते हैं कि गर्भस्थ शिशु आत्मविकास के लिए जितना पराक्रम करता है उतना ही वह जन्म लेने के उपरान्त भी जारी रख सके तो उसे देव-मानवों जैसी महानता उपलब्ध हो सकती है। भ्रूण जब परिपक्व हो जाता है तो उदर दरी से बाहर निकलने में उसी को चक्रव्यूह बेधने जैसा पराक्रम करना पड़ता है। प्रसव पीड़ा उसी व्याकुल प्रयत्नशीलता की परिणति है। यदि भ्रूण दुर्बल है तो उसे पेट चीरकर निकालना पड़ेगा। स्वाभाविक प्रसव सम्भव न हो सकेगा। अण्डे को मुर्गी देती तो है, पर उसके भीतर भरे कलल में उसका जो निजी समुद्र मन्थन चलता है उसे देखकर चकित रह जाना पड़ता है। पका अण्डा जब फूटने को होता है तो उसकी सारी भूमिका भीतर वाले चूजे को ही निभानी पड़ती है। फूटने के समय अण्डा थरथराता है, उसमें पतली दरार पड़ती है, दरार तेजी से चौड़ी होती है और बच्चा उछलकर ऊपर आ जाता है। यह पुरुषार्थ न बन पड़े तो अण्डा सड़ेगा और उससे बच्चा निकलने की बात किसी भी प्रकार बनेगी नहीं। कल्प तपश्चर्या के साधकों को दैवी अनुग्रह की भी कमी नहीं रहने वाली। पर उड़ने भर से ही अभीष्ट प्रयोजन पूरा होने वाला नहीं है। भ्रूण एवं चूजे की तरह आवरण को तोड़कर बाहर निकलने के लिए पराक्रम तो उसका ही प्रमुख रहेगा। उस उक्ति में परिपूर्ण सचाई भरी हुई है जिसमें कहा गया है कि ईश्वर मात्र उन्हीं की सहायता करता है जो अपनी सहायता आप करते हैं।

जीवन अपने आप में पूर्ण है। वह पूर्ण से उत्पन्न हुआ है और पूर्णता से परिपूर्ण है अंगार और चिनगारी में आकार का भेद तो है पर गुण धर्म का नहीं। परमात्मा विभु है, आत्मा लघु। यह आकार भेद हुआ। तात्विक दृष्टि से दोनों में समानता है। इसलिए 'शिवोऽहम्'-'सच्चिदानन्दोऽहम्' के रूप में उस तात्विक एकता का उद्बोधन कराया जाता है। इस तथ्य के रहते मनुष्य की दुर्गति क्यों होती है ? वह दीन दुर्बल क्यों रहता है ? शोक सन्ताप क्यों सहता है ? प्रगति प्रक्रिया से वंचित रहने का क्या कारण है ? इस दुर्गुण के रहते तो कुबेर का खजाना खाली हो सकता है। रावण जैसा समर्थ भी सपरिवार धराशायी हो सकता

है । भस्मासुर, वृत्रासुर, हिरण्याक्ष जैसे दुर्दान्त दैत्य बेमौत मारे गये । इस विनाशलीला में उनके अपने दोष–दुर्गुणों की भूमिका ही प्रधान थी ।

मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु असंयम है । सामर्थ्यों का अपव्यय, दुरुपयोग ही असंयम है । शक्ति तथा सम्पन्नता का लाभ तभी मिलता है जब उसका सदुपयोग बन पड़े । दुरुपयोग होने पर तो अमृत भी विष बन जाता है । माचिस जैसी छोटी एवं उपयोगी वस्तु अपना तथा पड़ौसियों का घर–बार भस्म कर सकती है । ईश्वर प्रदत्त सामर्थ्यों का सदुपयोग कर सकने की सूझ–बूझ एवं संकल्प शक्ति को ही मर्यादा पालन एवं संयमशीलता कहते हैं । इसी का अभ्यास करने के लिए कई प्रकार की तप साधनायें करनी पड़ती हैं । कल्प से जुड़ी तप साधनाओं में भी उस प्रखरता को उभारना एक बड़ा उद्देश्य है जो मानवी शक्ति को अभ्यस्त अपव्यय से बलपूर्वक बचाती और दबाव देकर उसे सत्प्रयोजनों में निरत करती है ।

संयम साधना के चार प्रमुख आधार हैं–(१) इन्द्रिय संयम, (२) अर्थ संयम, (३) समय संयम, (४) विचार संयम । वस्तुतः यही चार शक्तियाँ जीवन सत्ता के साथ जुड़ी हुई हैं । इन्हीं का संचय–सम्वर्धन करके कोई सच्चे अर्थों में सामर्थ्यवान बनता है । बाहरी शक्तियाँ तो अस्थिर भी हो सकती हैं और प्रयोक्ता की अदूरदर्शिता के कारण कई बार उसी के लिए घातक बनती हैं ।

प्रगति के पथ पर अग्रसर होने वालों में से प्रत्येक को अपनी समर्थता को अपव्यय से बचाकर अभीष्ट उद्देश्यों की पूर्ति में लगाना पड़ता है । कल्प साधकों को भी साधना काल में तो उपरोक्त चारों प्रकार के संयम विवश होकर बरतने ही पड़ते हैं । किन्तु इसी अवधि में यह निर्णय भी करना होता है कि साधना काल समाप्त होने के उपरान्त संयम साधना को जीवन चर्या का अविच्छिन्न अंग बनाकर रहेंगे । वस्तुतः भावी जीवन की तैयारी का निर्धारण ही इस कल्प साधना का सही एवं एकमात्र उद्देश्य है । थोड़े दिनों तो संयमी–तपस्वी बन कर रहा जाय और कल्प सूत्र समाप्त होते ही पुरानी बेतुकी आदतों में जुट पड़ा जाय तो स्नान करके फिर कीचड़ लपेट लेने जैसी एक बिडम्बना ही तो हुई ।

इन्द्रिय संयम में जिह्वा एवं जननेन्द्रिय पर छाये रहने वाले चटोरेपन का शमन करना पड़ता है । जीभ की चटोरी आदतों के कारण स्वाद के नाम पर अभक्ष्य खाने से अनावश्यक मात्रा में पेट पर बोझा लदता है । फलतः अत्याचार पीड़ित पेट में अपच रहने लगता है और चित्र–विचित्र नाम–रूपों वाली बीमारियों से शरीर संत्रस्त रहने लगता है । दुर्बलता और अकाल मृत्यु इसी असंयम की परिणति है । उत्तेजक, गरिष्ठ एवं भुने–तले पदार्थ न केवल दुष्पाच्य होते हैं वरन् मन को चंचल, दुर्बल, दूषित एवं कुमार्गगामी भी बनाते हैं । मनोरोगग्रस्त व्यक्ति किस प्रकार संकट सहते और त्रास देते हैं यह सर्वविदित है । इन मनोरोगों का एक बहुत बड़ा कारण अभक्ष्य भी होता है । चटोरेपन से मुक्ति पाने के लिए समय–समय पर लम्बे अस्वाद व्रत करने होते हैं और सामान्य आहार क्रम में सात्विक पदार्थों को न्यूनतम मात्रा में ही अग्नि संस्कार कर उपयोग में लाते हैं । इसी का एक स्वरूप, भले न्यूनतम ही सही, कल्प साधना में बनाया गया है ।

जीभ का दूसरा संयम संयत वचन बोलना है । संक्षेप में सारगर्भित, सदाशयतापूर्ण, शालीनता समर्थक, नम्रता युक्त मधुर वाणी का अभ्यास तप कहलाता है । सत्य बोलने के अन्तर्गत बात को ज्यों का त्यों कह देना ही पर्याप्त नहीं, उसके साथ वे सारी विशेषतायें भी जुड़ी रहनी चाहिए जिन्हें अपनाने से वचन में शालीनता की झाँकी मिलती है । मौन इसी अभ्यास के लिए अपनाना पड़ता है । प्रायः यहाँ मौन रहने का विधान इस साधना में इसी कारण है ।

इन्द्रियों में जिह्वा और कामेन्द्रिय प्रधान हैं । उन्हें साध लेने से मन समेत अन्य इन्द्रियाँ सरलतापूर्वक सध जाती हैं । ब्रह्मचर्य का माहात्म्य सर्वविदित है । ओजस् को जितनी कम मात्रा में खर्च किया जाय, उतना ही नर और नारी दोनों का हित है । स्खलन से दाद खुजाने जैसी क्षणिक गुदगुदी भले ही मिलती हो, जीवनी शक्ति का भण्डार तो घटता ही है । यौनाचार की तरह ही कामुकता का वातावरण, चिन्तन, दृष्टिकोण भी उस अदृश्य शक्ति का विनाश करता है जिसे रचनात्मक प्रयोजनों में प्रयुक्त करके अनेकानेक उपयोगी सफलताऐं उपलब्ध कर सकना सम्भव है । यों इन्द्रियों में आँख, कान, नाक आदि की भी गणना है, पर उनके

असंयम उतने नहीं होते जितने चटोरेपन और कामुकता के । असंयम वार्तालाप प्रत्यक्षतः कितने दुष्परिणाम उत्पन्न करता है, यह सर्वविदित है । उस कारण ओजस् शक्ति का क्षरण होने एवं प्रतिभा भण्डार में कमी पड़ने की हानि को भी जाना जा सकता है । वाणी का संयम ही है जिसके कारण ईश्वर प्रार्थना में बल आता है, मंत्राराधन सफल होता है और परामर्श प्रवचनों के प्रभावी होने से लेकर शाप वरदान देने की सामर्थ्य तक का उद्भव होता है ।

दूसरा संयम है—अर्थ संयम । दुर्व्यसन, ठाट—बाट, फैशन—शृंगार, प्रदर्शन, दर्प में जितना पैसा खर्च होता है इसे रोककर सत्प्रयोजनों में लगाया जा सके तो अपव्ययजन्य दोष—दुर्गुणों से बचने, दरिद्रता घटने तथा उपयोगी कार्यों के लिए कुछ साधन बचने जैसे कितने ही लाभ मिल सकते हैं । 'सादा जीवन—उच्च विचार' का सिद्धांत आध्यात्मिकता का, शालीनता का मेरुदण्ड है । उसका परित्याग करके विलासी, उच्छृंखलता अपनाई जाय तो अनायास ही व्यक्तित्व में अनेकानेक दोष—दुर्गुण घुस पड़ेंगे । इस विपत्ति से बचना हो तो अर्थ संयम बरतने में कठोरता अपनानी चाहिए । औसत भारतीय स्तर का निर्वाह पर्याप्त समझा जाना चाहिए । शेष बचत का ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जैसा परमार्थ परक उपयोग हो सकता है ।

सन्तान की संख्या बढ़ाना, परिवार को आलसी—अकर्मण्य बनाकर एक व्यक्ति की आजीविका पर निर्भर कर देना भी प्रकारान्तर से अपव्यय बढ़ाना ही है । इन आधारों पर अर्थ संकट खड़ा करने में किसी भी दृष्टि से बुद्धिमानी नहीं है । परिवार छोटे रहें । हर सदस्य मितव्ययी एवं परिश्रमी बने तब उस अर्थ संकट से बचा जा सकता है जिससे आजकल हर व्यक्ति संत्रस्त है ।

विवाह शादियों की धूमधाम में अनावश्यक खर्च करने जैसी कुरीतियाँ भी बरबादी का कारण बनी हुई हैं । उत्तराधिकार में बहुत कुछ छोड़ मरने, जो कमाया उसे सन्तान को ही देने की प्रवृत्ति ऐसी है जिसे प्रचलित होते हुए भी अनैतिक एवं अदूरदर्शितापूर्ण ही कहा जायगा । इन सभी अपव्ययों पर अंकुश लगाया जा सके तो वैयक्तिक एवं पारिवारिक जीवन में अनेकों सत्प्रवृत्तियाँ पनपेंगी । नीतियुक्त उपार्जन और विवेकपूर्ण

उपयोग का सिद्धांत यदि व्यावहारिक जीवन में अपनाया जा सके तो समझना चाहिए कि तपश्चर्या का एक अति महत्त्वपूर्ण सिद्धांत जीवन–क्रम में सम्मिलित हो गया और उसका दूरगामी सत्परिणाम उपलब्ध होना सुनिश्चित है । यह एक श्रेष्ठ सत्परम्परा तो है ही, साथ ही साधनों का सीमित व्यय किये जाने पर उपलब्ध प्रकृति सम्पदा का लाभ उन अभावग्रस्तों को भी मिल जाता है जो सम्पन्नों द्वारा अनावश्यक अपव्यय किये जाने पर उनके हिस्से में आती ही नहीं या फिर दाम ऊँचे चढ़ जाने के कारण वे उन्हें खरीद ही नहीं सकते । सादगी सात्विकता की प्रतीक है । उसमें नम्रता की झलक है जिसे अपनाने पर सहज सज्जनता पनपती है और ईर्ष्या–द्वेष का एक बड़ा कारण कम होता है ।

तीसरा संयम है–'समय संयम' । समय को लोग ऐसे ही आलस्य प्रमाद में काटते रहते हैं । मन्दगति से अन्यमनस्क होकर बेगार भुगतने की तरह किये गये काम समय तो नष्ट करते ही हैं, मात्रा में भी स्वल्प एवं गुणवत्ता म भौंड़े, घटिया ही होते हैं । इस प्रकार समय उतना ही खर्च हो जाने पर भी उसका परिणाम घटिया स्तर का मिलता है । समय संयम का तात्पर्य है–एक क्षण भी अनावश्यक कार्मों में अथवा व्यर्थ–निरर्थक नष्ट न होने देना । हर मिनट को हीरे–मोती से तौलने योग्य बहुमूल्य मानना और उसे पूरी मुस्तैदी के साथ उपयोगी कार्यों में नियोजित रखे रहना । जो ऐसा कर पाते हैं, वे सामान्य लोगों की तुलना में उतने ही समय में कई गुना, कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण सराहनीय स्तर का काम कर लेते हैं । थोड़ी–सी जागरूकता, तत्परता, तन्मयता का समावेश कर लेने से समय की आराधना बन पड़ती है और एक से एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों का सुयोग हस्तगत होता चलता है ।

समय ही जीवन है । कौन कितना जिया, इसका मूल्यांकन वर्षों की गणना करके नहीं किया जाना चाहिए । वरन् यह देखना चाहिए किसने कितनी तत्परता के साथ किस स्तर के कार्मों में अपना समय लगाया । इस कसौटी पर कम समय जीने वाले भी अपने क्रिया कृत्यों के आधार पर दीर्घजीवी कहे जा सकते हैं और निरर्थक समय गँवाते रहने वाले शत आयुष लोगों को भी अल्पकाल जीने वालों, अकाल मृत्यु मरने वालों में ही

गिना जायेगा । आद्य शंकराचार्य मात्र ३२ वर्ष जिये । विवेकानन्द ३६ वर्ष की आयु में दिवंगत हो गये । उतने समय में उनने महत्वपूर्ण स्तर के इतने काम कर लिए जिन्हें देखते हुए किसी शतायु से कम नहीं अधिक समय तक जीने वाला ही कहा जा सकता है ।

रावण के सम्बन्ध में कथा है कि उसने काल को चारपाई की पाटी से बाँध रखा था । उसी की अभ्यर्थना से उसने अनेक प्रकार की शक्तियाँ, सम्पदाएँ उपलब्ध की थीं । काल को इन दिनों भी कलाई पर हाथ-घड़ी के रूप में बाँधा जाता है । पर उनमें से कोई विरले ही यह समझते हैं कि इस उपकरण का उद्देश्य समय का ध्यान रखना, उसका सुनियोजित उपयोग करना है ।

जिनने समय उथले कार्मों में अथवा आलस्य प्रमाद में बिताया, समझना चाहिए कि उन्होंने ईश्वर प्रदत्त बहुमूल्य सम्पदा को फुलझड़ी बनाकर जलाया । स्मरण रखने योग्य तथ्य यह है कि ईश्वरीय सम्पदा के रूप में मनुष्य को समय ही मिला है । उसके बदले में संसार के बाजार में कोई भी भली बुरी वस्तु खरीदी जा सकती है । पैसा भी प्रकारान्तर से समय श्रम का ही घनीभूत स्वरूप है । वैभव के समस्त साधन, स्वरूप वस्तुतः समय की कीमत पर ही खरीदे जाते हैं । जुआ, चोरी की तरह कोई बिना श्रम के ही किसी प्रकार की कमाई हस्तगत कर ले तो उसे अवांछनीय ही कहा जायेगा ।

समय सम्पदा के बदले ही भौतिक सफलतायें अर्जित की जाती हैं और उसी के बदले आत्मिक क्षेत्र की विभूतियाँ उपलब्ध होती हैं । जिन्हें मौत के दिन पूरे नहीं करने हैं, जो जीवन का मूल्य समझते हैं और उससे कुछ महत्वपूर्ण उपलब्ध करना चाहते हैं, उन्हें यह तथ्य गाँठ-बाँध लेना चाहिए कि समय को ही जीवन समझें और दैनिक दिनचर्या में एक समूचे जीवन का कार्य निर्धारण बनाकर एक निश्चित नीति अपनायें । निरन्तर इस बात का ध्यान रखें कि कहीं समय सम्पदा का अपव्यय तो नहीं हो रहा है । अन्तिम सांस तक जीवन की हर घड़ी, पल का आदर्शवादिता का पग-पग उपयोग होता रहे । ऐसी व्यवस्था बनाकर चलने वाले ही जीवन आनन्द लेने और गर्व से संतोष करते पाये जाते हैं ।

चौथा संयम है—विचार संयम । विचार अदृश्य होते हैं । इसलिए आमतौर से उन्हें पदार्थ वैभव नहीं माना जाता और उन्हें उपयोगी प्रयोजनों में ही नियोजित किया जाता है, इसका किसी को ध्यान ही नहीं रहता । समझा जाना चाहिए कि विचार भी समय या धन की तरह एक सामर्थ्य है । उन्हीं के आधार पर कर्म की प्रेरणा मिलती है, साधन जुटते हैं और उत्थान—पतन का क्रम चलता है । वैज्ञानिक, कलाकार, साहित्यकार, विशेषज्ञ जन्मजात रूप से किन्हीं आंतरिक विशेषताओं से सम्पन्न नहीं होते, मात्र अपने विचारों को अस्त—व्यस्त होने से रोककर उन्हें अभीष्ट प्रयोजनों में ही नियोजित किये रहते हैं । फलस्वरूप बिखराव को समेटने का यह कौशल उन्हें निश्चित क्षेत्र में प्रवीण—पारंगत बना देता है ।

अध्यात्म क्षेत्र में बहुचर्चित ध्यान—धारणा में विचारों को एकाग्र करके लक्ष्य विशेष पर केन्द्रित करने का अभ्यास करना पड़ता है । यह एक उच्चस्तरीय कला—कौशल है ।

किसी विषय में प्रवीण पारंगत होने के लिए उसके साथ अभिरुचि जोड़नी पड़ती है । साथ ही विचारों को आवारागर्दी में भटकने से रोककर उन्हें निर्धारित प्रयोजनों में ही कार्यरत् रहने को अभ्यस्त करना होता है । इस प्रसंग में जिसे जितनी सफलता मिलेगी वह उसमें उतनी ही मूर्धन्य स्थिति प्राप्त करता चला जायेगा । महामानवों में से प्रत्येक ने विचारों को अभीष्ट लक्ष्य के साथ तत्परतापूर्वक जोड़े रहने की बुद्धिमत्ता अपनाई और उसी जागरूकता के आधार पर वे प्रगति पथ पर आगे बढ़ते चले गये ।

कल्प एक प्रकार की तप साधना है । उसमें निर्धारति अवधि में तो उपरोक्त चारों संयम अपनाने ही होते हैं, साथ ही यह निश्चय निर्धारण भी करना होता है कि समाप्त होने के उपरान्त भी वे इन्हें जीवनचर्या का अंग बनाकर रखेंगे । जिनने यह निश्चय किया और उसे व्रतपूर्वक निभाया, समझना चाहिए कि उनका भविष्य उज्ज्वल बनने में किसी प्रकार का संदेह शेष नहीं रह गया । व्रत साधना के दिनों में यही चिंतन—मनन करते रहना चाहिए—जीवन का किस प्रकार श्रेष्ठतम सदुपयोग किया जा सकता है और महत्वपूर्ण कृतियाँ साथ लेकर परमेश्वर के दरबार में कैसे गर्वोन्नत मस्तक से जाया जा सकता है ?

आध्यात्मिक कायाकल्प की साधना का तत्वदर्शन

आयुर्वेदीय शरीर कल्प की तरह आध्यात्मिक भाव–कल्प को समानान्तर समझा जाना चाहिए । एक में काया को दुर्बलता, रुग्णता, जीर्णता आदि अनपेक्षित परिस्थितियों से मुक्त किया जाता है, दूसरे में आस्था, आकांक्षा एवं अभ्यास पर चढ़ी हुई कुसंस्कारिता से त्राण पाने का प्रयत्न किया जाता है ।

शरीर की प्रकृति संरचना ऐसी अद्भुत है कि यदि उस पर असंयम जन्य अस्त–व्यस्तता न लादी जाय तो वह शतायु की न्यूनतम परिधि को पार करके सैकड़ों वर्षों जी सकता है । मरण तो प्रकृति धर्म है पर जीर्ण–शीर्ण होकर जीना–यह मनुष्य का अपना उपार्जन है । आरम्भ से ही सुपथ पर चला जाय, तब तो कहना ही क्या, अन्यथा मध्यकाल में रुख बदल दिया जाय तो भी ऐसा सुधार हो सकता है जिसे अद्भुत, अप्रत्याशित कहा जा सके ।

चेतना तन्त्र की संरचना भी ऐसी ही है । ईश्वर का अंग होने के कारण उसमें सभी उच्चस्तरीय विभूतियाँ भरी पड़ी हैं । पिण्ड ब्रह्माण्ड का छोटा रूप है । परमात्मा की ही छोटी प्रतिकृति आत्मा है । शरीर में वे सभी तत्व विद्यमान हैं जो प्रकृति के अन्तराल में बड़े एवं व्यापक रूप में पाये जाते हैं ।

काय साधना से न केवल आरोग्य लाभ मिलता है, वरन् तपश्चर्या की ऊर्जा से तपा, पकाकर ऐसा भी बहुत कुछ पाया जा सकता है जो प्रकृति की रहस्यमय परतों में खोजा–पाया जा सकता है । सिद्ध पुरुषों का प्रकृति पर आधिपत्य होता है । इसका आधारभूत कारण यह है कि काया में उन्हीं रहस्यों की बीज रूप में उपस्थिति को कृषि कार्य के साधनों से विकसित कर लिया जाता है । फलतः काया समूची माया का प्रतिनिधित्व करने लगती है । काया और प्रकृति के बीच आदान–प्रदान होने लगता है । जिस प्रकार पृथ्वी के ध्रुव केन्द्र व्यापक ब्रह्माण्ड से अपनी आवश्यक सामग्री खींचते, उपयोग करते रहते हैं, उसी प्रकार सिद्ध पुरुषों की काया न केवल ब्रह्माण्डव्यापी माया से, प्रकृति से आदान–प्रदान करती

है, वरन् चेतनात्मक विशेषता के कारण कई बार उस पर आधिपत्य भी करने लगती है । तपस्वियों की आलौकिक चमत्कारी सिद्धियों का यही रहस्य है ।

आत्मा के नाम से पुकारी जाने वाली ब्रह्म ऊर्जा की छोटी चिनगारी का मौलिक स्वरूप भी प्रायः वैसा ही है । पतित, पराजित तो उसे कषाय कल्मषों का आवरण करता है । दर्पण के सामने जो भी वस्तु आती है उसी का प्रतिबिम्ब दीखने लगता है । मूढ़ता और दुष्टता सामने हो तो आत्मा का स्वरूप भी वैसा ही दीखने लगता है । यदि पर्दा हटा दिया जाय तो दृश्य बदलते देर न लगे । नर और नारायण की एकता के दृश्यमान होने में एक ही व्यवधान है–संचित कुसंस्कारिता । चिन्तन पर चढ़ी हुई और व्यवहार–अभ्यास में भरी हुई निकृष्टता को किसी प्रकार निरस्त किया जा सके तो आत्मा का मौलिक स्वरूप प्रकट होने में देर न लगे ।

पुरुष–पुरुषोत्तम की, जीव–ब्रह्म की, नर–नारायण की एकता का प्रतिपादन काल्पनिक नहीं है । योगीजनों का प्रमाण–उदाहरण सामने है । उन्हें ईश्वर नहीं तो ईश्वरवत्, ईश्वर का प्रतिनिधि तो माना ही जाता है । इस स्थिति को प्राप्त कर सकना किसी के लिए भी सम्भव है । मनुष्य शरीर में अनेक देवदूत समय–समय पर आये हैं और ऐसे काम कर गये हैं जिससे उन्हें अवतार की, भगवान की मान्यता मिली । इस स्थिति को उपलब्ध करने में किसी दैवी वरदान की आवश्यकता नहीं पड़ती । मनुष्य अपने ही पराक्रम–पुरुषार्थ से कषाय–कल्मषों के आच्छादन तोड़ता है और चक्रव्यूह बेधकर बाहर जा निकलता है । चक्र वेधन जैसी प्रक्रियायें भव बन्धनों की जकड़न तोड़ने और चक्रव्यूह से बाहर निकलने की भावनात्मक प्रक्रिया है । इसे पूरी करने वाले योगी उस जीवन–मुक्त स्थिति को प्राप्त करते हैं जिसका सालोक्य, सामीप्य, सारुप्य, सायुज्य नाम से वर्णन–विवेचन किया जाता है ।

योग किसी शारीरिक या पदार्थ परक हलचल का नाम नहीं है, जैसा कि आमतौर से आसन–प्राणायाम या नेति–धौति आदि को जाना बताया जाता है । ये शरीर और मन के व्यायाम भर हैं जो प्रकारान्तर से आत्म–परिष्कार में सहायक सिद्ध होते हैं । तत्त्वतः योग अन्तराल पर चढ़े

हुए अवांछनीय आच्छादनों को हटाने और उनके स्थान पर उच्चस्तरीय परिधान पहनाने की भावनात्मक प्रक्रिया है । उसमें अभ्यस्त आदतों के रूप में स्वभाव का अंग बनी हुई कुसंस्कारिता की जड़ें काटनी पड़ती हैं और उन झाड़–झँखाड़ों के स्थान पर उच्चस्तरीय आस्थाओं को अन्तराल में उगाना–परिपुष्ट करना होता है । अन्तःक्षेत्र का यह समुद्र मन्थन ही योग है । खारे निषिद्ध जलाशय को मथकर किसी समय विष वारुणी को हटाया और अमृत जैसी अनेक विभूतियों को हस्तगत किया था । योग व्यक्तिगत समुद्र मंथन है जिसकी सारी प्रक्रिया अन्तःक्षेत्र में चलती हैं एवं उखाड़ने और जमाने का काया कल्प प्रस्तुत करता है । इसी को योग साधना कहते हैं । संक्षेप में आन्तरिक परिष्कार का नाम योग और क्रिया–प्रक्रिया में संयम–अनुशासन का समावेश तप कहा जाता है । इन प्रयोजनों की पूर्ति के लिएं कुछ न कुछ प्रत्यक्ष प्रयोग उपचार भी चलाने पड़ते हैं । कल्प साधना की क्रिया–प्रक्रिया ऐसे ही निर्धारणों से भरी पड़ी है । इतने पर भी इस तथ्य को समझ ही लेना चाहिए कि उपचारों की आवश्यकता इसीलिए पड़ती है कि व्यक्तित्व के अदृश्य स्तर का, अन्तराल का कल्प परिवर्तन सम्भव हो सके । दृष्टिकोण और कर्म प्रवाह में निकृष्टता यथावत् बनी रहे और क्रिया–प्रक्रिया के रूप में चित्र–विचित्र उपचार चलता रहे तो समझना चाहिए जड़ की उपेक्षा करके पत्ते धोने जैसी विडम्बना चल रही है ।

कल्प साधकों को उपवास, जप, स्वाध्याय, सत्संग जैसे दैनिक कृत्यों की पूर्ति तो शास्त्र परम्परा के अनुसार करनी ही चाहिए, पर साथ ही यह नहीं भूलना चाहिए कि यह अवधि तत्वतः अन्तर्जगत की गुत्थियों को सुलझाने के लिए किये जाने वाले मन्थन के लिए ही है । उसी को चिन्तन और मनन कहते हैं । इस क्रिया रहित प्रक्रिया को चान्द्रायण कल्प का मेरुदण्ड आधार केन्द्र कहना चाहिए ।

मन्थन में रई घुमाई जाती है । उसकी रस्सी एक बार आगे चलती है, दूसरी बार पीछे लौटती है । पीछे लौटना चिन्तन है और आगे बढ़ना मनन है । चिन्तन को आत्म–समीक्षा और आत्म–सुधार कह सकते हैं । उसे तपश्चर्या की संयम अनुशासन अपनाने की पृष्ठभूमि कहना चाहिए ।

मनन को आत्म-निर्माण एवं आत्म-विकास की पृष्ठभूमि कहना चाहिए । क्षुद्रता को महानता के साथ जोड़ देना ही योग है । इस उद्देश्य के लिए कामना को भावना में, तुच्छ को महान में, सीमित को असीम में परिवर्तित करना होता है । यही योग है । उसमें आस्थाएँ, आकांक्षाएँ एवं आदतें किस प्रकार उच्चस्तरीय बन सकें इसका निर्धारण एवं कार्यान्वयन करना होता है । प्रगतिक्रम को व्यवहार में उतारने की योजनाबद्ध साहसिकता की पृष्ठभूमि मनन के माध्यम से बनती है ।

साधनाकाल में आस्था एवं विचारणा के क्षेत्र में नव-निर्माण का प्रयत्न पूरी तत्परता के साथ चलना चाहिए । शरीर तप अनुशासन में संलग्न रहे । समयचर्या उन्हीं अनुबन्धों के शिकंजे में कसी रहे । किन्तु विचार प्रवाह को भौतिक क्षेत्र से हटाकर अन्तर्मुखी रहने के लिए विवश करना चाहिए । इन दिनों भौतिक क्षेत्र की चिन्ता समस्याओं से उपराम ही लेना चाहिए । जो गम्भीरतापूर्वक कभी सोचा ही नहीं गया, उसे इन दिनों सोचना चाहिए । जिस क्षेत्र में कभी बुहारी तक नहीं लगी, कभी दृष्टि ही नहीं गई उसे इन दिनों साफ-सुथरा बनाने से लेकर सुन्दर सुसज्जित बनाने के लिए तत्परता एवं तन्मयता के साथ जुटे रहना चाहिए ।

जप साधना के सीमित समय को छोड़कर प्रायः शेष सारा ही समय ऐसा है जिसमें विचार मंथन पर कोई रोकथाम नहीं है । शरीर कृत्यों के साथ-साथ चिन्तन प्रवाह अपने क्षेत्र में बहता रह सकता है । हल जोतते समय किसान घर-गृहस्थी की बात सोच सकता है, तो कोई कारण नहीं कि उपवास, श्रमदान आदि करते-करते जीवन की महत्वपूर्ण समस्याओं पर विचार करते रहने पर कोई रोकथाम रहे । यों चिन्तन-मनन के लिए कल्प में एक घण्टा नित्य एक निर्धारित प्रक्रिया के रूप में निश्चित है । उस समय तो विचार-मंथन उपरोक्त दो प्रयोजनों में निरत रहना ही चाहिए । इसके अतिरिक्त भी कभी भी खाली रहने या काम करते रहने की स्थिति में भी चिन्तन-मनन का उपक्रम जारी रखा जा सकता है ।

चिन्तन का विषय है-आत्मशोधन । मनन का उद्देश्य है-आत्म-परिष्कार । दोनों को एक दूसरे का पूरक कहना चाहिए । मल-त्याग के उपरान्त ही पेट खाली होता है तभी भूख लगती है और

भोजन गले उतरता है । धुलाई के उपरान्त रंगाई होती है । नींव खोदने पर दीवार चुनी जाती है । साँस छोड़ने पर नई साँस मिलती है । प्रयाण से पिछला पैर उठता और अगला बढ़ता है । आत्म-परिष्कार प्रथम और आत्म-विकास द्वितीय है । जो लोग चित्त और चरित्र से निकृष्टता हटाने की उपेक्षा करके सीधे ईश्वर तक पहुँचने के लिए योग सिद्धियों की बात करते हैं उन्हें हवा में तैरने वाले कल्पना लोक के पखेरू ही कहा जा सकता है । ऐसे शेखचिल्ली अध्यात्म क्षेत्र में भी कम नहीं है जो जिस-तिस क्रिया-प्रक्रिया को ही सब कुछ मानते हैं और श्रम प्रयास के आधार पर ही साधना की सफलता का स्वप्न देखते हैं ।

शरीर कल्प में न केवल कुटी प्रवेश करने की, नियत आहार-विहार अपनाये रहने की आवश्यकता पड़ती है वरन् उन दिनों चिन्तन के लिए भी एक नियत क्षेत्र निर्धारित रहता है । उन दिनों उसी प्रकार सोचते रहना पड़ता है ताकि कायिक परिवर्तन में चिन्तन की भूमिका का भी समुचित योगदान रह सके । यदि वैसा न बन पड़े-कुटी प्रवेश की स्थिति में प्रयोग की असफलता, व्यर्थता का संदेह छाया रहे, जी घबराने लगे, उद्विग्नता छाई रहे तो समझना चाहिए कि कायाकल्प प्रयोग की सफलता संदिग्ध हो गई । ठीक इसी प्रकार आध्यात्मिक कल्प-साधना के दिनों में मात्र भोजन में कटौती और जप पूरा करने की बेगार भुगती जाती रहे और आत्म-चिन्तन की उपेक्षा होती रहे तो समझना चाहिए कि शरीर-श्रम का जितना लाभ हो सकता है, उतना ही मिलेगा । मनोयोग के अभाव में उस उच्चस्तरीय प्रतिफल की आशा न की जा सकेगी, जो शास्त्रकारों, अनुभवी सिद्ध पुरुषों द्वारा बताई गई है ।

समझा जाना चाहिए कि चिन्तन का विषय अनुशासन है-इसी को संयम कहा जाता है । इन्द्रिय-संयम, अर्थ-संयम, समय-संयम और विचार-संयम की चर्चा पिछले पृष्ठों पर हो चुकी है । अपने वर्तमान स्वभाव-अभ्यास में इन प्रसंगों में कहाँ क्या त्रुटि रहती है इसका निष्पक्ष निरीक्षक एवं कठोर परीक्षक की तरह जाँच-पड़ताल की जानी चाहिए । आत्म-पक्षपात मनुष्य का सबसे बड़ा दुर्गुण है । दूसरों के दोष ढूँढ़ना, अपने छिपाना आम लोगों की आदत होती है । कड़ाई से आत्म-समीक्षा

कर सकने की क्षमता आध्यात्मिक प्रगति का प्रथम चिह्न है । पाप-कर्मों का प्रकटीकरण और प्रायश्चित का साहस इस बात का चिन्ह है कि इस क्षेत्र में प्रगति की आवश्यक शर्त को समझा और अपनाया जा रहा है । इसी श्रृंखला का अलग कदम स्वाध्याय सत्संग के द्वारा बाहरी प्रकाश-परामर्श प्राप्त करना है । उसी प्रक्रिया का सूक्ष्म रूप चिन्तन-मनन है । चिन्तन में गुण, कर्म, स्वभाव में घुसी हुई अवांछनीयताओं को बारीकी से ढूँढ़ निकालने का पर्यवेक्षण करना होता है । साथ ही उन्हें किस प्रकार निरस्त किया जाय-यह न केवल सोचना होता वरन् उसके लिए दिनचर्या का ऐसा ढाँचा बनाना होता है जिसे अपनाकर उपरोक्त चारों संयमों का क्रमबद्ध अभ्यास चलता रहे । आदतों को बदलने के लिए उनकी प्रतिद्वन्द्वी आदतों को दैनिक व्यवहार में सम्मिलित करना होता है । असंयम की गुंजाइश जिन कारणों से, जिन कार्यक्रमों से बनती है, उनको भी बदलना होता है । व्यवहार बदलने पर ही आदतें बदलने की बात बनती है इसलिए होना यह चाहिए कि असंयमों का अभ्यास तोड़ने वाला चारों क्षेत्रों का एक निश्चित कार्यक्रम बनाया जाय और उसका परिपालन कठोरतापूर्वक आरम्भ कर दिया जाय । कल्प अवधि इन अभ्यासों के लिए प्रभात काल की तरह सौभाग्य बेला समझी जानी चाहिए । इन दिनों अन्तःप्रेरणा के आधार पर स्वेच्छा-निर्धारण से उपरोक्त चार संयमों के कठोर परिपालन की व्यवस्था बनाई जाय । साथ ही यह भी निश्चित किया जाय कि इन निर्धारणों को घर लौटने पर भी भविष्य में नियमित रूप से जारी रखा जायगा । इस निश्चय पर उसी प्रकार आरूढ़-व्रतशील रहना चाहिए जिस प्रकार विवाह होने पर पति-पत्नी एक दूसरे का आजीवन निर्वाह करते हैं ।

अब मनन का प्रश्न आता है । उपलब्ध साधनों को आत्म-कल्याण के लिए उसी प्रकार प्रयुक्त करने का निश्चय करना चाहिए जिस प्रकार कि शरीर निर्वाह एवं परिवार-पोषण के लिए किया जाता है । दोनों के बीच विभाजन रेखा बननी चाहिए । जीवन व्यवसाय में आत्मा और शरीर की साझेदारी न्यायपूर्वक चलनी चाहिए । दोनों के योगदान से ही यह व्यवसाय चलता है तो लाभांश भी दोनों में विभाजित-वितरित होना चाहिए ।

मनुष्य के पास कई प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सम्पदायें हैं । श्रम, समय,

चिन्तन एवं साधन के रूप में ये चारों हर किसी के पास समान रूप से विद्यमान हैं । इन्हीं के बदले विभिन्न प्रकार की सम्पदायें, विभूतियाँ, सफलतायें अर्जित की जाती हैं । विशेष चातुर्य कौशल न सही, इन चारों की सामान्य मात्रा हर किसी को उपलब्ध है । होना यह चाहिए कि इनका विभाजन, उपयोग शरीर के लिए ही नहीं, आत्मा के लिए भी होने लगे । यह तभी सम्भव है जब उपरोक्त क्षमताएँ मात्र शरीरचर्या में ही नियोजित न रहें, इनका लाभ शरीर सम्बन्धी ही न उठाते रहें वरन् होना यह भी चाहिए कि आत्म–कल्याण के लिए भी इनका उपयोग होता रहे । मनन का उद्देश्य यही है कि वह निष्पक्ष न्यायाधीश की तरह यह फैसला करे कि जब जीवन–व्यवसाय में दोनों की पूँजी लगी हुई है–दोनों ही श्रम करते हैं तो लाभ एक पक्ष ही क्यों उठाता रहे । दूसरे को उसका उचित भाग क्यों न मिलने लगे । जो बीत गया उसकी बात छोड़ी भी जा सकती है, पर भविष्य के लिए तो यह विभाजन रेखा बन ही जानी चाहिए कि किसे कितनी मात्रा में लाभांश उपलब्ध होता रहेगा ।

पूजा–उपचार, आत्म–जागरण भर की आवश्यकता पूरी करते हैं उनसे आत्मिक प्रगति की समग्र आवश्यकता पूरी नहीं होती । जिस प्रकार शरीर को स्नान, दाँतों को मंजन, कपड़े को धोना, कमरे को बुहारना आवश्यक है, उसी प्रकार मनःक्षेत्र की स्वच्छता का दैनिक प्रयोजन पूरा होता है । जीवन–लक्ष्य की पूर्ति भजन से नहीं हो सकती । उसके लिए आत्मा की श्रद्धा, प्रज्ञा एवं निष्ठा जैसी उच्चस्तरीय आस्थाओं से अभ्यस्त कराना होता है । अभ्यास में उद्देश्य और श्रम का समन्वय होना चाहिए । शरीर को सत्प्रवृत्तियों में नियोजित करने के लिए लोकमंगल की साधना अनिवार्य रूप से आवश्यक है । मनुष्य–जन्म की धरोहर इसीलिए मिली है कि ईश्वर के विश्व को सुविकसित बनाने में कुशल माली की भूमिका निभाई जाय । सृष्टा की विश्व–व्यवस्था में उत्कृष्टता बढ़ाने–बनाने में सहायक की तरह हाथ बँटाया जाय । लोक मानस के भावनात्मक परिष्कार का कार्यक्रम बनाने और उनमें साधनों का महत्वपूर्ण भाग लगाते रहने से ही ईश्वर की इच्छा पूरी होती है, साथ–साथ आत्म–कल्याण का, आत्मोत्सर्ग का प्रयोजन भी पूरा होता है ।

परमार्थ प्रयोजनों के दो लाभ हैं एक दूसरे की सेवा साधना, विश्व

व्यवस्था में योगदान । दूसरा उस आधार पर अपने स्वभाव-अभ्यास में उत्कृष्टता का अभिवर्धन । मात्र सोचते रहने से ही स्वभाव नहीं बनता । संस्कारों में ही शक्ति होती है और वे भावना तथा क्रियाशीलता के समन्वय से ही बनते-ढलते हैं । संस्कार ही आत्मा के साथ लिपटते-घुलते हैं और उसकी प्रगति-अवगति के निमित्त कारण बनते हैं । सुसंस्कारिता अर्जित करने के लिए सेवा-साधना में निरत होने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं । साधु, ब्राह्मण, वानप्रस्थ, परिव्राजकों को आत्मलाभ इसीलिए मिलता है कि वे परमार्थ के माध्यम से सच्चे अर्थों में आत्म निर्माण का, आत्म-विकास का क्रमबद्ध उद्देश्य पूरा करते रहते हैं और उस राजमार्ग पर चलते हुए चरम लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं । प्रत्येक भगवद्‌भक्त को अपनी भक्ति भावना का प्रमाण-परिचय लोकमंगल की भावना में निरत रहकर देना पड़ता है । व्यस्त व्यक्ति भी यदि भावना सम्पन्न है तो उस दिशा में मुँह मोड़कर नहीं रह सकता ।

मनन का एक ही विषय है कि जीवनचर्या में उस सेवा-साधना का समन्वय कितना, किस प्रकार किया जाय ? जिससे आत्म-कल्याण का जीवन लाभ मिल सके । आत्म-संतोष, आत्म-सम्मान एवं दैवी अनुग्रह अर्जित करने के लिए उपासना ही पर्याप्त नहीं, इसके लिए संयम सधना और लोक मंगल की आराधना का समन्वय करके अपना प्रयास-क्रम त्रिवेणी संगम जैसा बनाना चाहिए । कल्प अवधि में भावी जीवनचर्या का शुभारम्भ एवं प्राथमिक प्रयोग-अभ्यास करना पड़ता है । उसकी सार्थकता तो तभी बनती है जब यह परिवर्तन क्रम आजीवन बना रहे और ठीक तरह निभता रहे ।

कार्यक्रम तो आवश्यकता एवं स्थिति के अनुरूप बनते-बदलते रहते हैं । मूल प्रश्न यह है कि उसे सम्पन्न करने की सामर्थ्य सामग्री कहाँ से प्राप्त हो ? कहना न होगा कि इसके लिए शरीर और परिवार की लिप्सा और तृष्णा के निमित्त जो समूची शक्ति खप जाती है उसमें कटौती की जाय और आत्म-कल्याण के निमित्त जो कुछ भी नहीं बन पड़ता, उसकी पूर्ति उस कटौती के द्वारा की जाय । प्रकारान्तर से यह वही प्रक्रिया है जिसे समयदान, अंशदान के रूप में प्रत्येक जागरूक आत्मा को सनातन परम्परा अपनाने के लिए प्रशिक्षित-उत्तेजित किया जाता है ।

प्रज्ञा परिवार के प्राथमिक सदस्यों को न्यूनतम चिह्न पूजा की तरह एक घण्टा समय और दस पैसा नित्य ज्ञानयज्ञ के लिए लगाते रहने के लिए बाधित किया जाता है । जागृत आत्माओं, प्राणवान प्रज्ञापुत्रों को इससे कुछ अधिक करने का दबाव डाला जाता है । उन्हें महीने में एक दिन की आजीविका एवं अवकाश के क्षणों का महत्वपूर्ण अंश समयदान के रूप में देते रहने के लिए कहा जाता है । आत्मोत्कर्ष की दिशा में सच्ची आकांक्षा जगाने और यथार्थवादी तत्परता उभारने के लिए प्रत्यक्ष चिह्न हैं । जिनमें ऐसा कुछ दृष्टिगोचर न हो, कृपण निष्ठुरता चट्टान की तरह अड़ी बैठी रहे, न श्रद्धा उँमगे और न उदार सेवा साधना का कोई चिन्ह उभरे तो समझना चाहिए कि ऊसर भूमि में कृषि कर्म करने, उद्यान लगाने की निरर्थक विडम्बना पल रही है ।

कल्प साधना में प्रायश्चित प्रसंग प्रमुख है । उसका छोटा अंश उपवास अनुष्ठान है जो मात्र थोड़े से काय–कष्ट से अति सरलतापूर्वक सम्पन्न हो जाता है । बड़ा काम वह है जिसमें दुष्कर्मों द्वारा समाज को पहुँचाई गई क्षति की भरपाई करनी पड़ती है अर्थात् सम्प्रवृत्ति सम्वर्धन के लिए श्रमदान, अंशदान के रूप में उतनी उदारता का परिचय देना पड़ता है, जिससे खोदी गई खाई का पट सकना सम्भव हो सके । मनन प्रक्रिया में दोनों ही तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह निर्धारण किया जाना चाहिए कि उपलब्ध समय एवं साधनों में से कितना अंश आरम्भ में एक बारगी लगाया जाना है और कितना भविष्य में किस अनुपात में नियोजित होता रहेगा ।

जीवन–व्यवसाय के लाभांश का विभाजन इस प्रकार होना चाहिए कि शरीर तथा उसका सम्पर्क परिकर ही सब कुछ न निगलता, हड़पता रहे, वरन् उपलब्धियों का एक महत्वपूर्ण अंश परमार्थ प्रयोजनों के लिए नियमित रूप से लगाने लगे । अभ्यस्त कृपणता, सम्बन्धियों का व्यामोह तथा प्रचलनों का दबाव, तथाकथित मित्रों का उपहास असहयोग बोधक हो सकता है । इनके चक्रव्यूह से किस प्रकार निपटा जायेगा, इसका साहसिक निर्धारण भी मनन प्रक्रिया के साथ–साथ ही करना होता है ।

❋

कल्पकाल की त्रिविध अनिवार्य साधनाएँ

ब्रह्मवर्चस की कल्प तपश्चर्या में दो साधना क्रम ऐसे हैं जिन्हें अनिवार्य रूप से किया जाता है—त्राटक—ज्योति अवतरण की बिन्दुयोग साधना तथा नादयोग अर्थात् अनाहत नाद—ब्रह्म की साधना । ये दोनों ही ध्यानपरक अन्तःउत्कर्ष की फलदायी साधनाएँ हैं । तीसरी साधना है—दर्पण के माध्यम से देवाधिदेव आत्म देव की साधना । तीनों ही साधनाएँ सभी साधक अपने कक्ष में एकाकी करते हैं । इन तीनों ही साधनाओं में जिस चिन्तन को प्रमुखता देनी है उसका विवेचन संक्षिप्त रूप से इन पंक्तियों में है । जिन्हें विस्तार से जानना हो या कुछ अन्य शंकाएँ हो वे मार्गदर्शक से समाधान कर सकते हैं ।

(१) **त्राटक—साधना**—चित्र या प्रतिमा पर ध्यान की साकार उपासना से ऊँचे उठने पर प्रकाश का ध्यान करना पड़ता है, इसे त्राटक कहते हैं । इसे केन्द्रीभूत करके अन्तर्जगत में दिव्य आलोक का आविर्भाव करना । त्राटक साधना इस योग का प्रथम पाठ है । जब इस ध्यान धारणा का विकास उच्चतर स्थिति में होता है तो यही प्रक्रिया आत्मज्योति एवं ब्रह्मदर्शन में परिणत हो जाती है । फिर त्राटक के लिए किसी प्रकाशोत्पादक दीपक, भौतिक उपकरणों की आवश्यकता नहीं रहती ।

मानवी विद्युत का सर्वाधिक प्रवाह नेत्रों से ही होता है । इसी प्रवाह को दिशाविशेष में प्रयुक्त करने के लिए नेत्रों की क्षण शक्ति को साधते हैं । त्राटक साधना का उद्देश्य यही है । अपनी दृष्टि क्षमता में इतनी तीक्ष्णता उत्पन्न की जाय कि वह दृश्य की गहराई में उतर सके, अन्तराल में जो अति महत्वपूर्ण घटित हो रहा है उसे पकड़ने में समर्थ हो सके । त्राटक का वास्तविक उद्देश्य दिव्य दृष्टि को ज्योतिर्मय बनाना है । इसी के आधार पर सूक्ष्म जगत् की झाँकी की जा सकती है । अन्तःक्षेत्र में दबी रत्न—राशि को खोजा और पाया जा सकता है । देश, काल की सूक्ष्म सीमाओं को लाँघकर अविज्ञात अदृश्य का परिचय प्राप्त किया जा सकता है ।

इस साधना में शरीर को ध्यान मुद्रा में शान्त एवं शिथिल करके

बैठते हैं । सामने प्रकाश दीप रखा होता है । पाँच सैकिण्ड खुली आँख से प्रकाश दीप को देखना, तत्पश्चात् आँखें बन्द करके भ्रूमध्य भाग में उसी प्रकाश आलोक को ज्योतिर्मय देखना । जब यह ध्यान आलोक शिथिल पड़ने लगता है तो फिर नेत्र खोलकर पाँच सैकिण्ड प्रकाश दीप को देखना और फिर आँखें बन्द कर पूर्ववत् भ्रूमध्य भाग में उसी प्रज्वलित ज्योति का ध्यान करना । यही है त्राटक साधना का स्वरूप जो चान्द्रायण कल्प में किया जाता है । इतने समय में प्रायः स्थिति ऐसी बन जाती है जिसके आधार पर देर तक भ्रूमध्य भाग में प्रदीप्त किये गये प्रकाश की आभा को समस्त शरीर में विस्तृत एवं व्यापक हुआ अनुभव किया जा सके ।

भ्रूमध्य भाग में आज्ञाचक्र अवस्थित है । इसी को तृतीय नेत्र या दिव्य नेत्र कहते हैं । पौराणिक आख्यान के अनुसार इसी नेत्र को खोलकर भगवान शिव ने विध्वंशकारी मनोविकार को–कामदेव को भस्म किया था । यह नेत्र प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान है । पीचुटरी–पीनियल के रूप में स्थूल रूप में विराजमान इस स्थान विशेष की सूक्ष्म संरचना नेत्रों जैसी है । इससे प्रकट–अप्रकट, दृश्य–अदृश्य, भूत–भविष्य सभी कुछ देखा, जाना जा सकता है । इस नेत्र में ऐसी प्रचण्ड अग्नि उत्पन्न करने की क्षमता है जिसके आधार पर अवांछनीयताओं को, अवरोधों को जलाकर भस्म किया जा सके । बिन्दुयोग की साधना त्राटक के माध्यम से की जाकर तृतीय नेत्र को ज्योतिर्मय बनाती है । इससे अग्नि–शिखा मनोविकारों को जलाकर भस्म कर डालती है । यह तो ऊपर शक्ति व्याख्या है । दार्शनिक दृष्टि से इसे विवेकशीलता–दूरदर्शिता का जागरण भी कहते हैं जिसके आधार पर लोभ, मोह, वासना, तृष्णा जैसे अगणित विग्रहों का सहज ही शमन किया जा सकता है । इस साधना में एकाग्रता का उतना नहीं जितना प्रवाहक्रम की प्रखरता का महत्त्व है । ज्योति अवतरण की प्रकाश साधना करने वालों को अपने कलेवर के हर रोम–रोम में ज्योति के साथ–साथ दिव्य भावनाओं के समावेश का चिन्तन करते रहना व सतत् उल्लास से भरी प्रसन्नता अनुभव करते रहना चाहिए ।

(२) नादयोग साधना—दिव्य सत्ता के साथ आदान—प्रदान का एक माध्यम है अनाहत—नादब्रह्म की साधना । अनाहत ध्वनि प्रकृति के सतत् संयोग से निनादित हो रही है । यों सुनने में सप्तस्वर और उनके आरोह—अवरोह मात्र शब्द—ध्वनि का उतार चढ़ाव प्रतीत होते हैं और उनका उपयोग वाद्य—गायन में प्रयुक्त होता भर लगता है, पर वस्तुतः उसकी सीमा इतनी स्वल्प नहीं है । स्वर ब्रह्म अपने इन्हीं अगणित ध्वनि प्रवाहों में न जाने कितने भाव भरे संकेतों और संदेशों को इस विश्व ब्रह्माण्ड में भरता और प्रवाहित करता रहता है ।

ध्यानयोग के माध्यम से हमारा अन्तःकरण उन दिव्य ध्वनियों को सुन सकता है । इस योग प्रक्रिया में कानों को बाहरी ध्वनि से विलग कर शान्त वातावरण में एकाग्र करके यह प्रयास किया जाता है कि अतीन्द्रिय जगत से आने वाले शब्द प्रवाह को अन्तः—चेतना द्वारा सुना जा सके । यों इसमें कर्णेन्द्रिय रूपी तन्मात्रा का योगदान तो रहता है, पर वह श्रवण है उच्चस्तरीय चेतन जगत की ध्वनि लहरियाँ सुनने के लिए । इसे कर्णेन्द्रिय और अन्तःकरण का एक सम्मिलित प्रयास भी कह सकते हैं ।

चान्द्रायण सत्र में सप्ताह में ६ दिन नादयोग का अभ्यास कराया जाता है । प्रत्येक साधक के कक्ष में तो ध्वनि प्रवाह को एकाकी रूप में पहुँचाना सम्भव नहीं है । सभी साधक सामूहिक रूप से एक साथ बैठकर निर्देशों को जानने के उपरान्त सुमधुर ध्वनि प्रवाह सुनते हैं । चिन्तन की प्रक्रिया क्या होनी चाहिए एवं साधक को अन्तः जागरण हेतु क्या करना चाहिए इसका उल्लेख इन पंक्तियों में है :—

शांत स्थिति से, ध्यान मुद्रा में और मन को साधकर साधक इस ध्वनि प्रवाह के साथ अपनी अन्तःचेतना को भावविभोर स्थिति में बहाने का प्रयत्न करें । जिस प्रकार सपेरे द्वारा बीन बजायी जाने पर सर्प बिल से निकलकर स्वर लहरी पर लहराने लगते हैं, उसी प्रकार इस संगीत ध्वनि के साथ—साथ साधक अपने मन को लहराने का प्रयत्न करे । आत्मा—परमात्मा के बीच आदान—प्रदान के भाव भरे अलंकारिक चित्रण रासलीला में किये गये हैं । इसमें गूढ़ आध्यात्मिक रहस्य ही है—नादयोग की व्याख्या, विवेचना ही उसमें सन्निहित है । वस्तुतः वह

ईश्वरीय प्रयोजनों के लिए सांसारिक बन्धनों को छोड़कर चल पड़ने का संकेत है ।

नादयोग में कान को सूक्ष्म चेतना की दिव्य ध्वनियाँ सुनाई देती हैं । कई बार ये अति मन्द होती हैं, कई बार अति प्रखर । वंशी की ध्वनि से कई बार कुमार्गगामी मन–वासना, तृष्णा का विषपिण्ड यह मन–विषधर सर्प की तरह लहराने लगता है । सपेरा सर्प को पकड़कर पिटारे में बन्द कर देता है । ठीक उसी प्रकार मन के निग्रह में, प्राणों के निरोध में नादयोग का ध्वनि प्रवाह बहुत ही सफल रहता है । सत्प्रवृत्तियों के साथ चल पड़ना और मन को कुमार्गगामी होने से रोककर निग्रहीत कर देना–नादयोग की विधि साधना है । सुनाई देने वाली ध्वनियों को संगीत साधक अपने चिन्तन–क्रम में इस प्रकार बिठा सकते हैं–'भगवती सरस्वती अपनी वीणा झंकृत करते हुए ऋतम्भरा प्रज्ञा के मृदुल मनोरम तारों को झनझना रही है और अपनी अन्तःचेतना में वही दिव्य तत्व उभर रहे हैं । भगवान शंकर अपना डमरू बजा रहे हैं और उससे प्रलय और मरण के संकेत आ रहे हैं । सुझाया जा रहा है कि मृत्यु कभी भी आ सकती है । प्रमाद में न उलझा जाय । महाकाल के भैरवनाद का संदेश सुना जाय । युग परिवर्तन की पुकार गूँज रही है, कह रही है कि अविलम्ब जीवनोद्देश्य की दिशा में कदम बढ़ाये जायें । अब अपनी गतिविधियों का कायाकल्प होना ही चाहिए ।' यह ध्यान जितना पकेगा उतनी ही सूक्ष्म अनुभूतियाँ उससे करतलगत होंगी ।

(३) आत्मदेव की उपासना–दर्पण साधना–इसे दर्पण में स्वयं का पर्यवेक्षण कह सकते हैं । इसे साधक अपने ही कक्ष में सम्पन्न करते हैं । देवाधिदेव परब्रह्म को अद्वैत तत्वविज्ञान ने आत्मदेव के रूप में देखा है । सोऽहम्, शिवोऽहम्, तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म जैसे सूत्रों में आत्मा, परमात्मा की अभिन्नता का ही प्रतिपादन किया गया है । जब तक मल–आवरण, विक्षेप, कल्मष अन्तःकरण पर चढ़े हैं, तभी तक जीव स्थिति है । जैसे–जैसे इन विकारों का शोधन होता है, आत्मा परमात्मा का रूप लेती जाती है ।

दर्पण में अपने आप को दर्शन कर साधक यही चिंतन करते हैं कि

ईश्वरीय महत्तायें बीज रूप में जीव में पूर्णरूपेण विद्यमान हैं । यदि उन्हें विकसित किया जा सके तो नर में नारायण की झाँकी तत्काल देखी जा सकती है । जो कुछ बहिरंग जगत में पाया जाता है उसकी ही बीज सत्ता अन्तरंग में मौजूद है । अस्तु काय कलेवर को तुच्छ नहीं मानना चाहिए वरन् इसमें श्रेष्ठतम की झाँकी की जानी चाहिए । भौतिक सम्पदा का गर्व तो हेय है पर आत्मदेव का गौरव हर किसी को अनुभव करना चाहिए और इसी आत्मगौरव की रक्षा करने वाली, आत्म गरिमा को ज्योतिर्मय बनाने वाली रीति-नीति अपनानी चाहिए ।

आत्मदेव की साधना का माहात्म्य अध्यात्म विज्ञान में अत्यधिक है । निराकार साधना में अपने कण-कण को नीलवर्ण प्राण ज्योति से ज्योतिर्मय देखने का अभ्यास किया जाता है । भावना की जाती है कि समष्टि सत्ता की प्रकाशवान दिव्य, प्रखर किरणें शरीर के रोम-रोम में प्रवेश करके बलिष्ठता बढ़ा रही हैं, मन में प्रविष्ट हो मनस्विता को प्रखर कर रही हैं । वे अन्तरात्मा के भाव संस्थान में प्रवेश करके आत्मशक्ति को ज्वलन्त बना रही हैं । अपना सब कुछ ज्योतिर्मय हो रहा है । साकार आत्म साधना में तो स्वयं को, अपने शरीर को ही देव-स्थान पर प्रतिष्ठापित करते हैं । मानवी काया में पाँच कोष पंच आवरण के रूप में विद्यमान हैं । इन पाँचों को ही स्वतन्त्र चेतना के रूप में विकसित किया जा सकता है । पाँच देव यही हैं । जो इन्हें जागृत कर सके, वह पाँच सहायक छाया पुरुषों, सशक्त सहायकों की महत्वपूर्ण सहायता का लाभ निरन्तर उठा सकता है ।

साकार आत्म साधना के लिए दर्पण का उपयोग करते हैं । दर्पण में अपना चेहरा, आधा शरीर ध्यानपूर्वक देखते हैं । उसे परिष्कृत स्तर का देवता मानकर उसका पूजन, स्तवन करते हैं । साथ ही यह आस्था भी जमाते हैं कि इस काय कलेवर में निवास करने वाली 'दिव्य ज्योति' यदि आत्म भाव की भूमिका में जागृत हो उठे, उसे अपनी गरिमा का भान हो सके तो वह निश्चिततः देवसत्ता सम्पन्न हो सकती है । विश्वबन्धु महामानवों की पंक्ति में उसे बैठने का अवसर मिल सकता है ।

कल्पकाल की अति फलदायी ऐच्छिक साधनायें

कल्प की अवधि में साधक को प्रायश्चित्त एवं तपश्चर्या के अतिरिक्त अपनी प्रकृति के अनुरूप विशिष्ट साधनायें भी करनी होती हैं । ये ऐच्छिक हैं एवं उस अनिवार्य साधना क्रम के अतिरिक्त हैं जो साधक को व्यक्तिगत रूप से करनी हैं । कौन सी किसे अनुकूल पड़ेगी, इसका निर्धारण मनःस्थिति का पर्यवेक्षण करने पर मार्गदर्शक ही सुझा सकते हैं । इस ऐच्छिक साधना क्रम में विभिन्न साधनायें इस प्रकार हैं–

(१) **प्राणाकर्षण प्राणायाम**–इस सृष्टि में सतत् विभिन्न स्तर के प्राण प्रवाहों का स्पन्दन चल रहा है । साधक अपने पुरुषार्थ से इन्हें सहज ही प्राप्त व धारण कर सकता है । प्राणाकर्षण प्रयोग में अन्तरिक्ष के असीम प्राण भण्डार से अनुदान प्राप्त किये जाते हैं । इनका प्रयोग इस प्रकार है :–

पूर्वाभिमुख हो पालथी मारकर बैठें । दोनों हाथ घुटनों पर, मेरुदण्ड सीधा, आँखें बन्द । ध्यान करें कि अखिल आकाश प्राण तत्व से व्याप्त है । सूर्य के प्रकाश में चमकते बादलों की शक्ल के प्राण का उफान हमारे चारों ओर उमड़ता चला आ रहा है । नासिका के दोनों छिद्रों से साँस खींचते हुए यह भावना कीजिए कि प्राण तत्व के उफनते हुए बादलों को हम अपने अन्दर खींच रहे हैं । यह प्राण हमारे विभिन्न अवयवों में प्रवेश कर रहा है । जितनी देर आसानी से रोक सकें साँस को भीतर रोकें, भावना करें कि प्राण तत्व में सम्मिलित चैतन्य, बल, तेज, साहस, पराक्रम जैसे घटक हमारे अंग–प्रत्यंगों में स्थिर हो रहे हैं । इसके बाद साँस धीरे–धीरे बाहर निकालें, साथ ही चिन्तन कीजिए कि प्राण का सार तत्व हमारे अंग–प्रत्यंगों द्वारा पूरी तरह सोख लिया गया है । थोड़ी देर तक बिना साँस के रहें व भावना करें कि जो दोष बाहर निकाले गये हैं, वे हमसे बहुत दूर चले जा रहे हैं व उन्हें अब अन्दर प्रवेश नहीं होने देना है । इस पूरी प्रक्रिया को पाँच प्राणायामों तक ही सीमित रखा जाय ।

(२) **सूर्यवेधन प्राणायाम**–ब्रह्म–प्राण को आत्म–प्राण के साथ संयुक्त करने के लिए उच्चस्तरीय प्राणयोग की आवश्यकता पड़ती है । सूर्यवेधन इसी स्तर का प्राणायाम है । इसमें ध्यान–धारणा को और भी

अधिक गहरा बनाया जाता है एवं प्राण ऊर्जा को सांस से खींचकर इसे सूक्ष्म शरीर में प्रवेश कराया जाता है । पद्धति इस प्रकार है—

पूर्वाभिमुख, सरल पद्मासन, मेरुदण्ड सीधा, नेत्र खुले, घुटने पर दोनों हाथ । यह ध्यान—मुद्रा है । बायें हाथ को मोड़ें, उसकी हथेली पर दायें हाथ की कोहनी रखकर, मध्यमा—अनामिका अँगुलियों से बायें नथुने को बन्द कर दाहिने नथुनें से गहरी साँस खींचें । साँस इतनी गहरी हो कि पेट फूल जाए, वह फेंफड़े तक सीमित न रहे । ध्यान करें कि प्रकाश प्राण से मिलकर दायें नासिका छिद्र से पिंगला नाड़ी में होकर अपने सूक्ष्म शरीर में प्रवेश कर रहा है । साँस रोकें व दोनों नथुने बन्द कर यह ध्यान करें कि नाभिचक्र में प्राण द्वारा एकत्रित यह तेजपुञ्ज यहाँ अवस्थित चिरकाल से पड़े सूर्य—चक्र को प्रकाशवान् कर रहा है । यह निरन्तर प्रकाशवान् हो रहा है । अब बायें नथुने को खोल दें और ध्यान करें कि सूर्यचक्र को सतत् घेरे रहने वाले, धुंधला प्रकाश बनाने वाले कल्मष छोड़ी हुई साँस के साथ बाहर निकल रहे हैं । पीत वर्ण का मलिन प्रकाश इड़ा नाड़ी से बाहर निकल रहा है ।

अब दोनों नथुने फिर बन्द कर फेंफड़ों को बिना साँस के खाली रखें व भावना करें कि नाभिचक्र में एकत्रित प्राण तेज पुंज की तरह, अग्नि शिखा की तरह ऊपर उठ रहा है, सुषुम्ना नाड़ी से प्रस्फुटित हुआ यह प्राण तेज सारे अन्तः प्रदेश को प्रकाशवान् बना रहा है । सर्वत्र तेजस्विता व्याप्त हो रही है । यही प्रक्रिया फिर बायें नथुने से साँस खींचकर व रोककर दायें से बाहर फेंकते हुए दुहरायें व भावना उसी प्रकार करें जैसा ऊपर वर्णित है । यह पूरी प्रक्रिया एक लोम—विलोम सूर्यवेधन प्राणायाम की हुई ।

(३) नाड़ी शोधन प्राणायाम—इस प्राण प्रयोग में तीन बार बायें नासिका से साँस खींचते और छोड़ते हुए नाभिचक्र में चन्द्रमा का शीतलध्यान, तीन बार दाहिने नासिका छिद्र से साँस खींचते हुए सूर्य का उष्ण प्रकाश वाला ध्यान तथा आखिरी बार दोनों छिद्रों से साँस खींचते हुए मुख से साँस निकालने की प्रक्रिया सम्पादित की जाती है ।

मुद्रा पूर्व की तरह दायीं नासिका का छिद्र बन्द करके बायें से

साँस खींचें और उसे नाभि चक्र तक ले जायें, ध्यान करें कि नाभि स्थान में पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान शीतल प्रकाश विद्यमान है । साँस उसे स्पर्श कर स्वयं शीतल एवं प्रकाशवान् बना रही है । इसी नथुने से साँस बाहर निकालें व थोड़ी देर साँस रोककर बायीं ओर से ही इड़ा नाड़ी के इस प्रयोग को तीन बार करें । अब दायें नथुने से इसी प्रकार पूरक, अन्तः कुम्भक, रेचक व बाह्य कुम्भक करें व नाभिचक्र में चन्द्रमा के स्थान पर सूर्य का ध्यान करें । भावना कीजिए कि नाभि स्थित सूर्य को छूकर लौटने वाली वायु पिंगला नाड़ी से होते हुए ऊष्मा और प्रकाश उत्पन्न कर रही है, इस क्रिया को भी तीन बार करें । अन्त में नासिका के दोनों छिद्र खोलकर साँस खींचकर व भीतर रोककर मुँह खोलकर एक बार में ही बाहर निकाल दें । प्रारम्भ में ही नाड़ी शोधन का अभ्यास करें, पीछे धीरे-धीरे संख्या बढ़ायी जा सकती है ।

(४) कुण्डलिनी योग-शक्तिचालिनी मुद्रा-ब्रह्मशक्ति का केन्द्र है । ब्रह्मलोक और जीवशक्ति का आधार है-भूलोक । दोनों ही काया में सूक्ष्म रूप से विराजमान हैं । भूलोक-जीव-संस्थान का मूलाधार चक्र है, मूलाधार जननेन्द्रियों का मूल, मल-मूत्र छिद्रों का मध्य भाग । इसी स्थान की हलचलों के कारण प्राणी जन्म लेते हैं । कुण्डलिनी शक्ति उसी केन्द्र में मुँह नीचा किये मूर्छित अवस्था में पड़ी रहती है । विवेकवान् उसे जगाकर अनेक गुनी प्रखर बनाते हैं और जागरण की इस प्रखरता का उपभोग व्यक्तित्व को प्रतिभा-सम्पन्न बनाने, उच्चस्तरीय कार्य सम्पादन करने में प्रयुक्त करते हैं ।

कुण्डलिनी जागरण की इस साधना में मूलाधार शक्ति को जगाने, उठाने के लिए ध्यान-धारणा के साथ जिन यौगिक क्रियाओं का सहारा लिया जाता है, उनमें एक मुद्रा व एक बंध का युग्म है । शक्तिचालिनी मुद्रा व उड्डियान बन्ध अधोमुखी शक्ति को ऊर्ध्वगामी बनाने के लिए प्रयुक्त होते हैं । शक्तिचालिनी मुद्रा बज्रासन या सुखासन में बैठकर की जाती है । इसमें मल एवं मूत्र संस्थान को संकुचित करके उन्हें ऊपर की ओर खींचा जाता है । खिंचाव पूरा हो जाने पर उसे शिथिल कर देते हैं । प्रारम्भिक स्थिति में दो मिनट व धीरे-धीरे पाँच मिनट तक बढ़ाते

हुए यही क्रिया बार-बार दुहरायें । उड्डियान बन्ध में स्थित आँतों को ऊपर की ओर खींचा जाता है । यह क्रिया स्वतः शक्ति-चालिनी मुद्रा के साथ धीरे-धीरे होने लगती है । पेट को जितना ऊपर खींचा जा सके, खींचकर पीछे पीठ से चिपका देते हैं । उड्डियान का अर्थ है-उड़ना । कुण्डलिनी जागृत करने, चित्तवृत्ति को अधोमुखी से ऊर्ध्वमुखी करने की यह पहली सीढ़ी है । इससे सुषुम्ना नाड़ी का द्वार खुलता है, मूलाधार चक्र में चेतना आती है । इन दोनों क्रियाओं के द्वारा समूचे कुण्डलिनी क्षेत्र पर ऐसा सूक्ष्म विद्युत्तीय प्रभाव पड़ता है जिससे इस शक्तिस्रोत के जागरण व मेरुदण्ड मार्ग से ऊर्ध्वगमन के दोनों उद्देश्य पूरे होते हैं ।

(५) हंसयोग-सोऽहम् साधना-प्राणायाम जहाँ संचय की प्रक्रिया है वहाँ सोऽहम् साधना महाप्राण-ब्रह्मप्राण की प्राप्ति का साधना-विधान है । कारण शरीर के अन्तराल को स्पर्श करने के लिए जिस महाप्राण की आवश्यकता होती है, वह इसी साधना से अर्जित किया जाता है ।

हंसयोग में साँस खींचने के साथ अत्यन्त गहरे सूक्ष्म पर्यवेक्षण में उतर कर यह खोजना पड़ता है कि वायु के भीतर प्रवेश करते समय सीटी बजने जैसी 'सी' की ध्वनि भी उसी के साथ घुली है । यह ध्वनि प्रकृतिगत नहीं, ब्राह्मी है । इसे कृष्ण वंशीवादन के समतुल्य समझा जाय । भावना यही की जा जाय कि जीवन-सम्पदा पर परिपूर्ण अधिकार 'सोऽहम्' परमेश्वर का है । साँस छोड़ते समय साँप की फुफकार जैसी 'अहम्' की ध्वनि का अनुभव अभ्यास में लाना होता है, भावना करनी होती है कि अहंता को विसर्जित, निरस्त कर दिया गया । 'अहम्' (ईगो) के स्थान पर 'स' (उस परमेश्वर) की प्रतिष्ठापना हो गई । यह स्थिति अद्वैत वेदान्त दर्शन की है ।

निरन्तर आत्मा और परमात्मा के साथ अपने सम्बन्ध को स्मरण रखने के लिए और सम्पर्क सूत्र बनाये रखने के लिए हर साँस के साथ सोऽहम् का अजपा जाप जारी रखा जाय ।

(६) लययोग-खेचरी मुद्रा-शान्त मस्तिष्क को ब्रह्मलोक और निर्मल मन को क्षीर सागर माना गया है । मनुष्य सत्ता और ब्रह्मलोक व्यापी समष्टि सत्ता का आदान-प्रदान ब्रह्मरन्ध्र मार्ग से होता है । यह मस्तिष्क का मध्य बिन्दु है, जीवसत्ता का नाभिक है, यही सहस्रार कमल

है । मस्तिष्क मज्जा रूपी क्षीर सागर में विराजमान विष्णु-सत्ता के सान्निध्य और अनुग्रह का लाभ लेने के लिए खेचरी मुद्रा की साधना की जाती है । ध्यान मुद्रा में शांत चित्त से बैठकर जिह्वाग्र भाग को तालु मूर्धा से लगाया जाता है । सहलाने जैसे मन्द-मन्द स्पन्दन किये जाते हैं । इस उत्तेजना में सहस्रदल कमल की प्रसुप्त स्थिति जागृति में बदलती है । बन्द छिद्र खुलते हैं और आत्मिक अनुदान जैसा रसास्वादन जिह्वाग्र भाग के मध्य से अन्तःचेतना को अनुभव होता है । यही खेचरी मुद्रा है ।

तालु मूर्धा को कामधेनु की उपमा दी गई है और जीभ के अगले भाग से उसे सहलाना-सोमपान, पयपान कहलाता है । इस क्रिया से आध्यात्मिक आनन्द की, उल्लास की अनुभूति होती है । यह दिव्यलोक से आत्मलोक पर होने वाली अमृत वर्षा का चिन्ह है । देवलोक से सोमरस की वर्षा होती है । अमृत कलश से प्राप्त अनुदान आत्मा को अमरता की अनुभूति देते हैं ।

(७) **शिथिलीकरण मुद्रा-योगनिद्रा**-इस मुद्रा का अभ्यास शवासन में लेटकर अथवा आराम कुर्सी पर शरीर ढीला छोड़कर किया जाता है । यह क्रिया शरीर, मन, बुद्धि को तनाव से मुक्त करके नई चेतना से अनुप्राणित कर देती है । साधक को शरीर से भिन्न अपनी स्वयं की सत्ता की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है ।

कोलाहल मुक्त वातावरण में लेटकर पहले शरीर शिथिलीकरण के निर्देश स्वयं को दिये जाते हैं । शरीर के निचले अंगों से आरम्भ करके शनैः-शनैः यह क्रम ऊपर तक चलाते हैं । हर अंग को एक स्वतंत्र सत्ता मानकर उसे विश्राम का स्नेह भरा निर्देश देते हैं । कुछ देर उस स्थिति में रहकर धीरे-धीरे शारीरिक शिथिलीकरण सधने पर क्रमशः मानसिक शिथिलीकरण एवं दृश्य रूप में शरीर पड़ा रहते देखने, चेतनसत्ता के सरोवर में ईश्वर को समर्पित कर देने की भावना की जाती है ।

शिथिलीकरण योगनिद्रा का प्रारम्भिक चरण है । अचेतन को विश्राम देने, नई-स्फूर्ति दिलाने तथा अन्तराल के विकास-आत्मशक्ति के उद्भव का पथ प्रशस्त करने की यह प्रारम्भिक क्रिया है । ध्यान योग की यह प्रक्रिया आध्यात्मिक दृष्टि से उपलब्धियों से भरी हुई है, शरीरगत तथा मनोगत इसके सत्परिणाम तो सर्वविदित हैं ही ।

*

आहार एवं औषधिकल्प के मूल सिद्धांत एवं व्यावहारिक स्वरूप

कल्प चिकित्सा को सामान्यतः आयुर्वेद के एक उपांग के रूप में ख्याति प्राप्त है । चिर पुरातन ग्रन्थों में कल्प के सम्बन्ध में एक ही द्रव्य या औषधि के प्रयोग से रोग निवारण एवं स्वास्थ्य सम्वर्धन के विविध प्रयोजन सिद्ध करने का वर्णन मिलता है । यह भी उद्धरण मिलते हैं कि कल्प का निश्चय करने वाले व्यक्ति कमजोर मनोभूमि के न हों । जो भी व्यक्ति अपनी व्याधि निवारण अथवा जीवनी शक्ति के सम्वर्धन हेतु इसका प्रयोग करें उनकी इच्छा-शक्ति प्रबल होनी चाहिए, भले ही शरीर से वे दुर्बल ही क्यों न हों ? आजकल ऐसे व्यक्ति ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलते । थोड़ा-सा अधिक दबाव पड़ने पर मनोभूमि कमजोर होकर चीं बोल जाती है और बहुसंख्यक व्यक्ति कल्प अवधि पूरी भी नहीं कर पाते । रहन-सहन का, खान-पान का स्तर व आदतें इन दिनों कुछ इस प्रकार की हो गयी हैं कि पुराना ढर्रा छूटता नहीं, नया क्रम अपनाते बनता नहीं । ऐसे में च्यवन की तरह जरा के यौवन में बदल जाने की कल्पना भी कैसे की जाय ?

सारी परिस्थितियों को एवं जिस परिसर से निकलकर साधक आये हैं, दृष्टि में रखकर सुगमतम निर्धारण करते हैं तो आहार में नियमन व भाँति-भाँति के सम्मिश्रण छोड़कर एक ही आहार पर गुजारा करने को कल्प का एक स्वरूप माना जा सकता है । जीवनक्रम के ढर्रे को झकझोरने तथा जो भी कुछ है उसी की मरम्मत कर काम चलाऊ बना लेने तक को ही कायाकल्प मान लेना चाहिए । इससे कम में वे भ्रांतियाँ मिटेंगी नहीं जो जन मानस में कायाकल्प, दीर्घायुष्य, नवयौवन की प्राप्ति के विषय में संव्याप्त है । कल्प चिकित्सा का मूल सिद्धांत है-शारीरिक क्षय की गति को रोककर आहार क्रम बदलने तथा दिव्य शक्तिदायक औषधियों को ग्रहण करने के माध्यम से नवीन शक्ति का जागरण किया जाय । सूक्ष्म स्तर की साधनायें ऐसी परिष्कृत मानवी काया को ही प्रभावित कर आध्यात्मिक कल्प की प्रमुख भूमिका बनाती हैं । इसके अभाव में तो वे सभी उपचार निरर्थक हैं जो प्रसुप्त की जागृति व अन्तः की सामर्थ्य के जागरण के निमित्त किये जाते हैं ।

आहार सम्बन्धी कुछ भ्रान्तियाँ एवं उनका निवारण

आहार से ही जीवन बनता है । अन्न एवं वनस्पतियाँ हमारे बाह्य कलेवर का प्राण हैं । इनके बिना शरीर रूपी वाहन चल नहीं सकता । प्राण में प्राणशक्ति न हो, हमारा मूल ईंधन ही अपमिश्रित हो तो कलेवर में गति कहाँ से उत्पन्न हो ? आवश्यकता इस बात की है कि अन्न प्राणवान बने, संस्कार दे तथा शरीर शोधन व नव निर्माण की दुहरी भूमिका सम्पन्न करे । खान–पान सम्बन्धी आदतों ने आज अन्न को विकृत तथा शाक–वनस्पतियों को पूरी तरह दूषित कर दिया है । तला–भुना खाने, सुस्वादु भोजन ही लेने की मान्यताओं ने बहुसंख्य व्यक्तियों को रोगी बना दिया है । कुपोषण वही नहीं, जो कम आहार या कैलोरी लेने से होता है, वह भी है जो विकृत आहार लेने से होता है । जिसे भोजन के रूप में अपने प्राकृतिक स्वरूप में ग्रहण किया जाना चाहिए था, उसे ही हम अशुद्ध बनाकर अपनी पाचन क्रिया बिगाड़ते, नाना प्रकार के रोगों तथा जरा को शीघ्र आमंत्रण देते हैं । इन मान्यताओं में परिवर्तन करने के लिए एक प्रकार की विचार क्रांति का ही स्वरूप बनाना होगा ।

सभी जानते हैं कि नमक एक प्रकार का विष है । जितना भी शरीर को आवश्यकता है, उतना अपने सहज रूप से अन्न से लेकर वनस्पति तक सभी में यह अनिवार्य तत्व विद्यमान है । उस पर भी यदि ऊपर से लिया जाय तो वह रक्त की सांद्रता बढ़ाकर जीव कोष की क्रियाशीलता घटाता है, जीवन शक्ति को गिराता है तथा शरीर को रोगों का घर बनाता है । नमक में सोडियम क्लोराइड होता है और बाहर से लिए गये इस अतिरिक्त रसायन से मोर्चा लेने में हृदय, रक्त परिवहन संस्थान तथा गुर्दे को कितना संघर्ष करना पड़ता होगा, इसकी कल्पना सामान्य जन कर भी नहीं सकते । वैज्ञानिकों का कथन है कि बाहर से लिए गये नमक को आहार से हटाकर निश्चय ही उन व्याधियों की संख्या कम की जा सकती है जो व्यक्ति को मृत्यु के मुँह में धकेलती हैं । इनमें उच्च रक्तचाप, दमा, एथेरोस्क्लेरोसिस, कैन्सर जैसी व्याधियाँ प्रमुख मानी

जाती है। जीवनकोष अपने लिए निश्चित मात्रा-अनुपात में आवश्यक तत्वों का आदान-प्रदान 'सोडियम-पोटेशियम पम्प' के माध्यम से करते हैं। इन दोनों का झिल्ली की सतह पर आगमन ही 'सेल' को विद्युत्तीय चार्ज से युक्त करना है। इन दोनों का झिल्ली की सतह पर आगमन ही 'सेल' को विद्युतीय चार्ज से युक्त करना है। इन आवेशों के कारण ही 'सेल' सभी महत्वपूर्ण क्रियायें सम्पन्न कर पाते हैं। अतिरिक्त मात्रा में आया सोडियम जीव कोषों की झिल्ली पर विद्युत्त रसायन प्रक्रिया को अस्त-व्यस्त कर देता है और धीरे-धीरे इन कोषों की आयु कम होने लगती है। यदि समग्र कायाकल्प ही अभीष्ट है, काया को निरोगी बनाना है, जीवनी शक्ति को जूझने योग्य सामर्थ्यवान् बनाना है तो निश्चित ही इस कृत्रिम विष की आहार में मात्रा को या तो घटाना पड़ेगा या मनोबल दृढ़ हो तो उसे हटाना ही होगा। इससे कमजोरी आने की बात कहना तो मन को झुठलाना भर है। स्वादेन्द्रियों की दृष्टि को महत्व देने वालों की तो बात ही क्या करना? वे तो अपने पक्ष के समर्थन में भाँति-भाँति के तर्क देते रहते हैं पर विचारशील मनीषी वर्ग यदि मन से विचार करे तो उसे प्रतीत होगा कि आहार में समुचित संशोधन अनिवार्य है। इसके बिना कायाकल्प करना तो दूर, उसका नाम भी नहीं लेना चाहिए।

नमक के अतिरिक्त एक अन्य पक्ष है आहार की विकृति। लोगों की मान्यता कुछ इस प्रकार की है कि जो पदार्थ स्वादिष्ट लगे, जिसका जायका बढ़िया हो, जिसमें घी, तेल, मिर्च-मसाले प्रचुर मात्रा में हों, जिसे देखते ही मुँह में पानी भर आये, वही भोजन ग्रहण करने योग्य है। ऐसे चटोरे लोग खाद्य सामग्री के सारे पोषक तत्वों को नष्ट कर मात्र कार्बन ही खाते हैं। भोजन अग्निहोत्र प्रक्रिया के समान है जिसमें प्रदीप्त जठराग्नि में आहुति दी जाती है। जिस प्रकार यज्ञाग्नि में उपयुक्त-अनुपयुक्त, अशुद्ध और निषिद्ध किसी भी प्रकार की आहुति देने से सुफल की आशा नहीं की जा सकती वरन् हानि एवं दैवी अभिशाप की ही सम्भावना अधिक रहती है उसी प्रकार क्षुधा रूपी ज्वाला में अखाद्य, अशुद्ध, अग्राह्य हवि निश्चित ही रोगों को दिया गया आमंत्रण है जिसे जीवन देवता का अभिशाप भी मान सकते हैं।

इसी प्रकार भोजन का अर्थ किसी तरह पेट को भरना नहीं है। जिस वक्त जो कुछ मिल जाय उल्टा-सीधा, अच्छा-बुरा पेट में डालकर इस पापी की आग बुझाना एक प्रकार से गलत दृष्टिकोण है। भोजन की उपेक्षा करने वाले भी उतने ही निन्दा के पात्र हैं जितने स्वाद के नाम पर विकृत आहार लेने वाले।

यदि पकाने में अग्नि संस्कार कम से कम लिया जाय और मात्र हल्की आग पर खाद्य वस्तुओं को उबालने तक की ही चूल्हे की भूमिका मान ली जाय तो अन्न को, वनस्पतियों को बिगड़ने से काफी कुछ बचाया जा सकता है। तलना, भूनना, एक प्रकार से खाद्य की जीवनी शक्ति को नष्ट कर देना है। उबालने का श्रेष्ठतम तरीका भाप के सहारे पकाने का है। इसमें खाद्य पदार्थों की मूल सामर्थ्य नष्ट नहीं होती। प्रेसर कुकर-सादे कुकर की व्यवस्था से भोजन पक सके तो इससे श्रेष्ठ कोई विधि नहीं। यह पूर्णतः वैज्ञानिक है तथा महत्वपूर्ण घटकों से बिना छेड़छाड़ किये उन्हें परिपाक के योग्य बनाने वाली प्रक्रिया है। शांतिकुञ्ज की कल्प चिकित्सा में इस प्रक्रिया से ही आहार पकाया जाता है। ब्याइलर व्यवस्था से पकाया अन्न पूर्णतः सात्विक, पौष्टिक, सुस्वादु तथा हाइजिनिक होता है, यह सभी जानते हैं व अनुभव भी करते हैं।

आहार विषयक एक और त्रुटिपूर्ण मान्यता है जिसे मात्र सनक ही कहा जा सकता है। थाली में अनेक प्रकार के भोज्य पदार्थ हों, यह प्रदर्शन करने वाले को सुहा सकता है, आमाशय व आँतों को यह स्वीकार नहीं। कटोरियों व वस्तुओं की संख्या जितनी कम होगी, पेट को उतनी ही सुविधा रहेगी। आमाशय व आँतों का भी अपना कुछ क्रम है। वहाँ शीघ्र पचने योग्य वस्तुऐं तुरन्त अवशोषित हो जाती हैं, कई ऐसी होती हैं जो धीरे धीरे पचती है। यदि ऐसी विपरीत स्वभाव वाली वस्तुओं को साथ ग्रहण कर लिया गया तो एक हाँड़ी में कई प्रकार केखाद्य-पदार्थ हो जायेंगे। आधी कच्ची आधी पकी प्रक्रिया से रक्त में अनिवार्य घटक भी अधूरे घुलेंगे। इतना ही नहीं शेष अधपचे आहार से आंत्र संस्थान में जो क्रांति मचेगी, उनकी पीड़ा तो नित्य

भुगतने वाले ही जानते हैं । अपच, खट्टी डकारें, भोजन के उपरान्त तुरन्त शौच आना, आँवसहित पतले दस्त, उदर शूल–इसी की प्रतिक्रियायें हैं । यदि भाँति–भाँति के सम्मिश्रण से बचा जा सके, एक या दो आहार तक स्वयं को सीमित कर लिया जाय तो इससे श्रेष्ठ कोई सरल साधन साधक के लिए नहीं हैं । साधकों के लिए आहार की चर्चा में कुछ और भी तथ्य जानने योग्य हैं । पेट खराब करने वाली आदतें ऐसी हैं जो अचेतन के अभ्यस्त ढर्रे में ढल जाती हैं, फिर सरलता से निकलती नहीं । बिना पूरी तरह चबाये जल्दी–जल्दी ग्रास निगल जाना, साथ ही पानी का अत्यधिक मात्रा में प्रयोग, बार–बार कुछ न कुछ उदरस्थ करते रहना तथा आधे मन से नाक–मुँह सिकोड़ते हुए भोजन करना अत्यधिक हानिकारक मानी गयी चार आदतें हैं । इनके विषय में विस्तार से न लिखकर इतना बता देना भर ही पर्याप्त होगा कि जहाँ तक हो सके कल्प के साधक इनसे बचें व आहार साधना को अन्य साधना जितना ही महत्व दें । इतना करने पर ही आगे के महत्वपूर्ण प्रसंगों का व्यवहार में उतार पाना सम्भव है ।

कल्प के पूर्व कुछ अनिवार्य ज्ञातव्य

कल्प साधना एवं चिर पुरातन कल्प चिकित्सा में कुछ अन्तर है । कल्प एक साधना भी है चिकित्सा एक प्राकृतिकोपचार ।

कल्प चिकित्सा के लिए औषधि का प्रयोग करने के पहले शरीर की शुद्धि एक परमावश्यक बात है । क्योंकि जब तक शरीर में मल की अधिकता रहेगी उस पर औषधियों का ठीक प्रभाव नहीं पड़ सकता । साथ ही यह भी सम्भव है कि कल्प के प्रभाव से मल उमड़कर कोई नया उपद्रव खड़ा कर दे । इसलिए आयुर्वेद के ग्रन्थों में इस बात पर बहुत जोर दिया गया है कि कल्प की औषधियाँ सेवन करने से पूर्व स्नेहन, वमन, विरेचन आदि पंच कर्मों के द्वारा शरीर में संचित दूषित मल को भली प्रकार निकाल डालना चाहिए ताकि वह औषधियों के प्रभाव को शीघ्र ग्रहण करने में समर्थ हो सके । इन पंच कर्मों में यद्यपि वमन और

विरेचन को प्रधान माना गया है, पर जो मल शारीरिक अंगों में चिपटा रहता है उसे सुगमता से निकालने के लिए स्नेहन और स्वेदन आवश्यक है। जैसे साबुन लगाकर मैले को फुला दिया जाता है, उसी प्रकार स्नेहन तथा स्वेदन कर लेने से वमन–विरेचन में सहायता मिलती है।

स्नेहन प्रक्रिया के लिए वसा प्रधान पदार्थों का प्रयोग किया जाता है। स्थावर जो वनस्पतियों से मिलते हैं तथा जंगम जो प्राणियों से घी, वसा के रूप में प्राप्त होते हैं। कल्प चिकित्सा में घी और तेल को ही प्रधानता देते हैं। इनका प्रयोग पीने, वस्ति, शिरोवस्ति, नस्य, मालिश एवं भोजन आदि के द्वारा किया जा सकता है।

स्वेदन प्रक्रिया का अर्थ किसी प्रकार से काया को गर्मी पहुँचाकर पसीना लाना है। इसके माध्यम से शरीरगत दोषों को बाहर निकलने में सहायता मिलती है। प्राकृतिक चिकित्सा के ढंग से भाप प्रक्रिया द्वारा ऊपर कम्बल व नीचे अंगीठी रखकर पसीना लाया जा सकता है। इससे रोम कूप खुलते हैं और मल निष्कासन की प्रक्रिया तेज होती है। आजकल इस कार्य के लिए बिजली का, इन्फारेड किरणों का भी प्रयोग किया जाता है।

वमन प्रक्रिया के पीछे सिद्धांत है–संचित मलों को आमाशय में एकत्र हो जाने पर उन्हें निकाल बाहर करना। यदि वमन प्रक्रिया ठीक प्रकार से विशेषज्ञ मार्गदर्शन में की जा सके तो शरीर वस्तुतः हल्का होकर कल्प के योग्य हो जाता है। यह संचित कफ को निकाल देने की प्रक्रिया है। विरेचन इसीलिए वमन के बाद कराया जाता है ताकि ऊपर का कफ आँतों में कष्ट न उत्पन्न करे।

विरेचन में किस प्रकृति के व्यक्ति के लिए क्या श्रेष्ठ औषधि हो यह उसकी प्रकृति पर निर्भर है। आयुर्वेद के निष्णात इसका निर्धारण करते हैं एवं पित्त से मृदु, वात कफ से क्रूर तथा समदोष वाले व्यक्ति के लिए विरेचन की प्रक्रिया का स्वरूप बनाते हैं।

अन्तिम प्रक्रिया है वस्ति। जहाँ वमन और विरेचन मात्र आमाशय और पित्ताशय की शुद्धि करते हैं, वहीं वस्ति से मलाशय तथा पक्वाशय के विकारों का निष्कासन किया जाता है। एनिमा इसका एक आधुनिक

स्वरूप है । आयुर्वेद में इसी प्रयोग हेतु विभिन्न मन्त्रों से मूत्राशय, महिलाओं के योनि मार्ग तथा मलाशय की शुद्धि का विधान है । औषधियुक्त तेल, साबुन मिश्रित जल अथवा ग्लिसरीन आदि अन्दर पहुँचाकर संचित मल को इससे निकाल बाहर किया जाता है ।

यह तो संक्षेप में उन पंचकर्मों की चर्चा हुई, जिन्हें कल्प के पूर्व किए जाने का शास्त्रोक्त विधान है । शरीर का शोधन करने के लिए इनसे श्रेष्ठ कोई उपचार नहीं । परन्तु आजकल ऐसे सुदृढ़ मनःस्थिति के व्यक्ति मिलते नहीं जो इस पूरे प्रकरण को धैर्यपूर्वक निभा सकें । आध्यात्मिक-भाव-कल्प में इसी कारण पहले मन को मजबूत बनाने के लिए प्रायश्चित प्रक्रिया तथा आहार में सीमा बन्धन जैसे छोटे प्रयोगों से शुभारम्भ किया जाता है । इतना बन पड़ने पर आगे वह पृष्ठभूमि बन जाती है, जिसके आधार पर और भी क्लिष्ट प्रयोग कायाकल्प के किये जा सकें ।

कल्प चिकित्सा की पात्रता के सम्बन्ध में महर्षि चरक का मत

यौवनावस्था को पुनः प्राप्त करने के लिए कल्प चिकित्सा आयुर्वेदीय औषधि प्रणाली का आन्तरिक भाग है । 'चरक-संहिता' के कई अध्यायों में इस चिकित्सा का वर्णन है । सुश्रुत, वाग्भट्ट और अन्य लेखकों ने भी इसके बारे में लिखा है और इस उद्देश्य के लिए जिन औषधियों का उल्लेख किया गया है, उनको रसायन नाम से पुकारा गया है ।

इस चिकित्सा से कौन अच्छा लाभ उठा सकता है इस विषय में 'चरक-संहिता' में कहा गया है-

"जो सत्यवादी है, क्रोध से मुक्त है, भोग-विलास तथा मांस भक्षण से परे है, मारकाट तथा थकावट के कामों से दूर रहता है, सहनशील है, जप करता है, मन और शरीर जिसके शुद्ध हैं, सदाचारी है, संतुष्ट है, उदार और दानी है, देवताओं, गऊ, ब्राह्मणों, साधुओं, अध्यापकों तथा वृद्धों का आदर करता है, जो नीच कर्मों से बचता है, जिसका हृदय कोमल है, ज्ञानी है, जो ठीक समय पर सोता और जागता है, भोजन में दूध का प्रयोग करता है, समय की कीमत को समझता है, तर्क और अधिकार को मानता है, गर्व से दूर है, अपने धर्म में दृढ़ है, धार्मिक बातों को समझता है, अपने मन पर जिसका काबू है और इसे सर्वशक्तिमान के ध्यान में लगाता है, ईश्वर में जो विश्वास रखता है और जो धर्मशास्त्रों के आदेश का पालन करता है, वही मनुष्य बिना रसायन सेवन किये कल्प-चिकित्सा से लाभ उठा सकता है । अगर ऐसे गुणों वाला मनुष्य कल्प-चिकित्सा में रसायन का सेवन भी करता है तो उसे इस चिकित्सा का पूर्ण लाभ मिलता है ।

विभिन्न प्रकार के कल्प प्रयोग

ब्रह्मवर्चस् की कल्प साधना में क्रमिक रूप से शास्त्रोक्त सभी प्रकार के कल्पों को किये जाने का विधान है । प्रारम्भिक रूप में उसका एक छोटा स्वरूप भाप द्वारा पकाये गये एक ही अन्न के आहार का पूरी अवधि

में सेवन तथा एक ही औषधि के निर्धारित मात्रा में नित्य प्रयोग के रूप मे बनाया गया है । साधना-अनुष्ठान, स्वाध्याय, सत्संग, नित्य अग्निहोत्र कुटीवास, औषधि के क्वाथ (प्रज्ञापेय) सेवन आदि से साधकों में इस अल्पावधि में ही महत्वपूर्ण परिवर्तन होते पाये जाते हैं। परम्परागत चिकित्सा पद्धति में विभिन्न प्रकार के प्रयोगों की चर्चा की जाती है जिनमें प्रमुख इस प्रकार हैं-(१) दुग्धकल्प, (२) मठाकल्प, (३) अन्न कल्प-गेहूँ, जौ, चावल, मक्का, बाजरा, हविष्यान्न (गेहूँ+जौ+तिल), अमृताशन (चावल+दाल), मूँग एवं दलिया । इनमें से किसी एक को अकेले अथवा सम्मिश्रण के रूप में ग्रहण किया जा सकता है । (४) फल कल्प-आम,खरबूजा, पपीता, छुआरा, जामुन, सन्तरा, शहतूत, फालसा, सेव, नाशपाती, अमरूद तथा शरीफा । (५) शाक कल्प-मेंथी, बथुआ, पालक, लौकी, टमाटर, तोरई, गाजर, परवल, ककड़ी, चौलाई । (६) औषधि कल्प-गिलोय, ब्राह्मी, शंखपुष्पी, अश्वगंधा, शतावर, आंवला, हरीतकी, निर्गुण्डी, तुलसी, बिल्व, त्रिफला, विधारा, पलास, मुसली, शाल्मली, भृंगराज, अमलतास तथा चोपचीनी ।

कल्प चिकित्सा में बहुधा रसपर्पटी, स्वर्ण पर्पटी आदि औषधियों की चर्चा होती है । पारे और गन्धक के सम्मिश्रण से ये रसायन बनते हैं जिनका कार्य है पाचक यंत्रों को सबल करके परिपाक तन्त्र (एसिमिलेशन) को सुव्यवस्थित बनाना । रसायन होने के नाते इनका प्रयोग भले ही आयुर्वेद सिद्धान्तार्गत प्रतिपादित कल्प चिकित्सा में होता हो, सौम्य कल्प साधना में इनका प्रावधान नहीं बताया गया है । काष्ठ औषधियों की गुणवत्ता अपने स्थान पर है । एक मात्र उन्हीं के प्रयोग से भी शरीर तंत्र का शोधन सम्भव है । पर्पटी का प्रयोग सभी को अनुकूल भी नहीं पड़ता । ऐसी अवस्था में पाचन तंत्र को थोड़ा विश्राम देकर ही खाद्य के प्रयोग से पोषण करने का सिद्धांत ही ठीक बैठता है । साधक की प्रकृति के अनुसार निर्धारित आहार, औषधियाँ इसी कारण पथ्य का समुचित अनुपात में परिपाक करती व जीवनी शक्ति बढ़ाती देखी जाती हैं ।

यहाँ संक्षेप में उपरोक्त छह प्रकार के कल्पों में से कुछ का विवरण दिया जा रहा है । प्रत्येक में मूल सिद्धांत एक ही है-एक आहार की-एक माह की अस्वाद साधना, कृत्रिमता से दूर प्राकृतिक जीवन क्रम

की ओर चलने का अभ्यास । इससे वे साधक तो लाभान्वित होंगे ही जो स्वस्थ हैं पर स्वयं अन्तः सामर्थ्य को और बढ़ना चाहते हैं, वे रोगी साधक भी निरोग हो सकेंगे जिन्हें सूक्ष्म रूप से अवस्थित उन विकारों की जानकारी नहीं है जो कमजोर मनःस्थिति का, अशक्त बनाये हुए हैं ।

(१) दुग्ध कल्प–

दुग्ध को एक संतुलित खाद्य माना गया है । इसमें यथेष्ठ परिणाम में मात्र प्रोटीन ही नहीं शर्करा, वसा, विभिन्न विटामिन तथा धातु बलवत्ता भी विद्यमान है । इन प्रोटीन (अमीनो एसिड्स) की विशेषता यह रहती है कि वे शरीर में पहुँचते ही पच जाते हैं, प्रायः सभी अंश देह में अवशोषित हो नव निर्माण में नियोजित हो जाते हैं । उनकी शर्करा (लैक्टोज) आँत में जाकर अन्य शर्कराओं के पाचन में भी मदद करती है । अन्य शर्करायें आँत में अधिक समय रहकर सड़ने लगती है जबकि लैक्टोज के साथ यह बात नहीं है । गाय के दूध में प्रति १०० ग्राम (प्रतिशत) ३.३ ग्राम प्रोटीन्स, ३.६ ग्राम प्रतिशत वसा, ४.८ ग्राम प्रतिशत शर्करा, ९७.६ ग्राम प्रतिशत जल तथा ६५ कैलोरी प्रति १०० ग्राम होते हैं । इसमें विटामिन बी–२.२०० मिलीग्राम प्रतिशत, कैल्सियम ०.१२ मिली ग्राम तथा फास्फोरस ०.०९ मिलीग्राम प्रतिशत होता है । सतोगुणी प्रवृत्ति के कारण इसे ही श्रेष्ठ माना गया है । वसा, शर्करा एवं कैलोरी का अनुपात भले ही भैंस या बकरी के दूध में अधिक हो, कल्प साधना के प्रयोजनों को दृष्टिगत रखते हुए गौ दुग्ध का सेवन ही हितकारी है ।

अब शोध निष्कर्ष उसी तथ्य की ओर इंगित करते हैं कि अधिकांश व्याधियाँ आवश्यक तत्वों की शरीर में कमी से उत्पन्न होती हैं । कुपोषण असंतुलित आहार ग्रहण करने से होता है । विद्वानों का कथन है कि हृदय से सम्बन्ध रखने वाले कुछ स्थानीय विकारों, जन्मजात व्याधियों को छोड़कर ऐसी कोई शारीरिक व्याधि नहीं है जो दूध के यथाविधि सेवन करने से न मिट जाय । शरीर की कमियों की पूर्ति हेतु दूध से श्रेष्ठ कोई पदार्थ नहीं । अधिकांश व्यक्तियों की सामान्यतया पाचन शक्ति ठीक नहीं होती, इसलिए उन्हें ऐसे भोजन की आवश्यकता होती है जो शरीर का पोषण तो भली प्रकार कर सके पर जिसके पचाने में अधिक शक्ति खर्च

न हो । ऐसा सबसे अच्छा और प्राकृतिक भोजन दूध ही है । इसमें हमारी आवश्यकतानुसार सभी पोषण तत्त्व मौजूद रहते हैं । छोटे बालक बहुत समय तक दूध पर खूब स्वस्थ रहते हैं और अनेक वृद्ध भी केवल दूध का सेवन करके वर्षों तक जीवित रहते देखे गये हैं । आधुनिक ग्रन्थों में भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें किसी कारणवश एक व्यक्ति को ५० वर्ष और दूसरे को ७५ वर्ष केवल दूध पर रखा गया और वे स्वस्थ रहकर सब तरह के काम करते रहे । यही कारण है कि उन तमाम बीमारियों के लिए जिनको अंग्रेजी में 'न्यूनता की बीमारी' (डिफीशिऐन्सी डिसीजेज) कहते हैं, दूध का सेवन ही सबसे बड़ा इलाज कहा गया है ।

दूध के द्वारा चिकित्सा करने का निश्चय करने के बाद अनजान व्यक्ति विशेष भूलें कर बैठते हैं । पहली भूल तो यह है कि वह पाचन प्रणाली (मुँह से लेकर मलद्वार तक) की तैयारी किए बिना ही ठोस भोजन बन्द करके एकदम दुग्धाहार शुरू कर दें और दूध को पानी की तरह पीने लगें । दूसरी भूल यह हो सकती है कि कोई मनुष्य एक-डेढ़ सेर दूध रोज पीवे और यह समझ ले कि मैं दुग्धाहार कर रहा हूँ । कुछ लोग ऐसे भी देखे गये हैं जो दो तीन बार ठोस भोजन खा लेते हैं और बीच-बीच में थोड़ा-थोड़ा करके सेर दो सेर या अधिक दूध भी लेते हैं । वे यह समझते है कि हम दुग्धाहार पर हैं अथवा दुग्ध चिकित्सा कर रहे हैं । ऐसे विचार अनजानपन के चिन्ह हैं और उनसे बचना चाहिए । जो लोग दूध को औषधि की तरह सेवन करना चाहते हैं और जिनकी इच्छा है कि इस प्रकार की दुग्ध चिकित्सा से उनका कोई रोग दूर हो जायगा या गिरे हुए स्वास्थ्य में सुधार हो सकता है तो उन्हें चिकित्सकों द्वारा बतलाया सब नियमों का पूर्ण रूप से पालन करते हुए इस चिकित्सा को करना चाहिए ।

दूध कच्चा, धीमी आँच पर एक उफान तक गरम कर ठण्डा किया हुआ, कुकर में भाप से गरम किया अथवा मन्द आँच पर धीरे-धीरे गरम किया हो सकता है । दुग्धकाल में कभी-कभी कच्चे दूध का आंशिक या पूर्ण प्रयोग किया जाता है । शास्त्रीय पद्धति के अनुसार दूध को मिट्टी के पात्र में रखकर कपड़े से लपेट कर गीली मिट्टी में रखते हैं । यदि उनमें स्वच्छता आदि की सम्भावना न हो तो गरम कर लेना ही हितकर है । धारोष्ण का

कच्चा दूध श्रेष्ठ माना गया है । जिनका पेट ठीक है, आँव अथवा पतले दस्त नहीं होते, आदतें नियमित हैं–उन्हें इसी का सेवन करना चाहिए । इसमें विटामिन 'सी' पूर्णतः सुरक्षित रहता है । एक उफान पर गरम किए दूध में विटामिन 'सी' तो कम हो जाता है पर 'ए' मलाई की तह के नीचे पूर्णतः सुरक्षित रहता है । भाप से गरम किया दूध अधिक पोषक होता है, कब्ज नहीं करता । दुग्ध कल्प प्रयोजन हेतु उपयुक्त नहीं । यदि दही बनाकर मक्खन निकालना हो तो भी दूध को मन्द आँच पर गरम किया जाय ।

दुग्ध कल्प के कुछ साधारण नियम इस प्रकार हैं–(१) दुग्ध चिकित्सा आरम्भ करने के पूर्व कम से कम एक दिन उपवास अवश्य कर लिया जाय । पेट संस्थान की पूर्ण शुद्धि होने पर पाचन शक्ति यथेष्ट मात्रा में बढ़ जाती है । (२) एक बार कल्प आरम्भ करने पर अपनी क्षमतानुसार २४ घण्टे की मात्रा स्वयं निर्धारित कर लेना चाहिए । इस बीच पानी कम से कम लें । एक बार में ३०० ग्राम दूध से अधिक न लें । जो भी पियें, यथा सम्भव चीनी रहित हो, एवं धीरे–धीरे चम्मच से स्वाद लेकर पीयें । आजकल की स्थिति को देखते हुए २४ घण्टे में दो या तीन लीटर की मात्रा अधिकतम है । (३) पहले दिन कम से आरम्भ कर मात्रा को धीरे–धीरे बढ़ाना चाहिए । केवल दिन–दिन के १२ घण्टे में पीना चाहिए । रात्रि का समय पूर्णतः उपवास युक्त हो । (४) कुछ लोगों को आरम्भ में पेट में वायु अधिक बनने से गुड़–गुड़ाहट अधिक होती है, डकारें आती हैं, ऐसे में एक दिन उपवास कर लेना अधिक श्रेष्ठ है । (५) कब्ज की स्थिति में शुद्ध पानी का एक एनिमा ले लेना ठीक रहता है ।

किसी भी एक आहार का कल्प करने में एकरसता की स्थिति आ जाती है । ऐसे में यह जरूरी है कि मन प्रसन्न हल्का–फुल्का रखा जाय । प्रसन्नता, उत्साह, चिकित्सा के प्रति श्रद्धा से जठराग्नि प्रबल होती है । हमेशा यही भावना करनी चाहिए कि "मेरा जो भी इलाज हो रहा है, उसमें अवश्य सफलता मिलेगी । कोई भी मानसिक अवरोध या पुराने संस्कार मुझे इस निश्चय से विचलित नहीं कर सकते ।"

(२) मट्ठा एवं दही कल्प–

दूध की तुलना में दही हल्का होता है । गर्मी के मौसम में दूध के

स्थान पर दही-मट्ठे का प्रयोग अधिक श्रेष्ठ माना जाता है । दुग्ध कल्प की अवधि में यदि पतले दस्त होने लगें अथवा संग्रहणी या अमीबिएसिस की पुरानी बीमारी से साधक ग्रस्त हो तो दही का प्रयोग करना होता है । दमा के रोगी को मीठा दही तभी अनुकूल पड़ता है, जब दम शमन का आयुर्वेदोपचार कर लिया गया हो एवं वह औषधि से नियंत्रण में हो । दही का प्रयोग करने से पूर्व उसे एक छोटी मथनी से मथ देनी चाहिए ताकि उसके सब कण टूट जायें व वह मट्ठा का रूप ले ले । मट्ठा दही से भी अधिक सुपाच्य है । मक्खन निकालकर दही में आधे अनुपात में जल मिलाने पर छाछ बन जाती है । छाछ में शुद्धि एवं पोषण दोनों ही कार्य करने वाले तत्व होते हैं । आमाशय एवं ऊर्ध्वगामी पाचन संस्थान को इसे पचाने के लिए विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता । शरीर के सहजीवी एन्जाइम उत्पादक जीवाणु फ्लोरा जैसे ही जीवाणु इसमें भी होते हैं । ये रोगोत्पादक जीवाणुओं से आँत्रों की नित्य शुद्धि करते रहते हैं ।

आयुर्वेद के अनुसार मट्ठा (तक्र) अग्नि दीपक, कफ-वात शामक, उदर-शोथ नाशक, स्वादिष्ट व खट्टा होता है । यह संग्रहणी, बवासीर, पेट के रोग, मूत्रावरोध, अरुचि, वमन, वातशूल आदि को दूर करता है । विद्वानों के अनुसार मट्ठा को तुरन्त बनाकर उपयोग में लिया जाय । ऐसा तक्र ही सच्चा लाभ पहुँचाता है । मदनपाल निघण्टु के अनुसार शीतकाल में संग्रहणी रोग में, अर्श, कफ रोग, वात-व्याधि, स्रोतों के बन्द होने पर तथा मन्दाग्नि में तक्र अमृत समान है ।

भाव प्रकाश निघण्टुकार ने तो तक्र की तुलना देवताओं को उपलब्ध अमृत से की है और इसे भूतल पर मनुष्यों के लिए स्वास्थ्य सम्वर्धन हेतु विधाता की अनुपम भेंट कहा है ।

मट्ठा यदि मलाई सहित दही को मथकर बनाया जाय व उसमें पानी न डाला जाय तो घोल, मलाई निकालकर मथ लिया जाने पर मथित, तीन भाग दही व एक भाग पानी मिलाकर मथा जाने पर तक्र तथा अधिक भाग पानी व कुल भाग मक्खन रहित दही होने पर छाछ कहलाता है । आयुर्वेद ने तक्र को ही चिकित्सा हेतु श्रेष्ठ माना है । इसका प्रयोग वात रोग में सैंधव लवण, सोंठ, भुना जीरा डालकर किया जाता है । पित्त रोग

में शक्कर मिलाकर मीठा तक्र पीना श्रेष्ठ मानते हैं और कफ रोग में त्रिकुटाचूर्ण (सौंठ, पीपल, कालीमिर्च समभाग) के साथ ।

रासायनिक दृष्टि से दही में ८९.१ प्रतिशत आर्द्रता, ३.१ ग्राम प्रतिशत प्रोटीन्स, ४ ग्राम प्रतिशत वसा, ०.८ ग्राम प्रतिशत खनिज लवण, ३ ग्राम प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट, ६० किलो कैलोरी प्रति १०० ग्राम, १४९ मिलीग्राम प्रतिशत कैल्शियम, ९३ मिलीग्राम प्रतिशत फास्फोरस, १०२ माइक्रोग्राम प्रतिशत विटामिन–ए तथा क्रमशः ०.०५, ०.१६, ०.१, ०.१ मिलीग्राम प्रतिशत की मात्रा में थाँयमिन, रिबोफ्लेबिन, नियासिन एवं विटामिन 'सी' होते हैं । छाछ में आर्द्रता बढ़कर ९७.५ प्रतिशत हो जाती है । शेष पोषक तत्त्वों की मात्रा में प्रति १०० ग्राम कमी तो हो जाती है पर वे अधिक पाचक, अवशोषण योग्य बन जाते हैं । तक्र में लैक्टिक एसिड एवं सिट्रिक एसिड अतिरिक्त मात्रा में होते हैं जिनका मूल कार्य है रस ग्रन्थियों को उत्तेजित करना । रक्त शुद्धि, रक्ताभिसरण प्रक्रिया को बढ़ाकर विकारों को मूत्र मार्ग से निकालने में सभी घटकों की प्रमुख भूमिका रहती है ।

छाछ–मट्ठा का प्रयोग वहीं ठीक बैठता है जहाँ आँतों के स्वभाव एवं उनकी क्रिया पद्धति के अनुकूल इनकी आवश्यकता समझी जाय । इनमें संकोचन गुण है । अतः कोष्ठबद्धता, (कांस्टीपेशन–कब्ज) प्लीहा वृद्धि के रोगियों को यह अनुकूल नहीं बैठता । इसीलिए कल्प का निर्धारण स्वयं न कर उचित मार्गदर्शक द्वारा ही किया जाना चाहिए ।

जिसके लिए अनुकूल माना जाए, उसे अन्न एवं जल बन्द कर एक दिन उपवास करा के तक्र या मट्ठा कल्प करना चाहिए । मट्ठा ताजा ही बनाया जाय एवं गाय के दही का प्रयोग हो । मट्ठे में स्वभावतः पानी इतना होता है कि उसे अलग से लेने की आवश्यकता नहीं होती । पहले व दूसरे दिन ३–४ बार में आधा–आधा लिटर तक्र का सेवन किया जाय । पहले कुछ दिनों में जल की आवश्यकता हो तो ले भी सकते हैं पर यथा सम्भव कम लें । जठराग्नि के बलानुसार तक्र की मात्रा धीरे–धीरे बढ़ाई जा सकती है । फिर भी कल्प की मर्यादाओं को ध्यान में रखकर पूरी अवधि में थोड़ा कम ही लिया जाय तो शोधन–तप एवं सृजन योग दोनों ही प्रयोजन पूरे हो सकते हैं । जैसे ही कल्प समाप्त करते हैं, पथ्य

क्रम धीरे-धीरे आरम्भ हो । नियमित आहार पर आने के लिए एक माह की कल्पावधि वाले साधक को न्यूनतम एक सप्ताह तो लेना ही चाहिए ।

(३) अन्नाहार कल्प-

कल्प साधना के प्रथम वर्ष में शुरूआत अमृताशन-दलिया कल्प से की गयी है जिसे वाष्प द्वारा पकाया जाता है और १ माह की अवधि तक बिना स्वाद को अधिक महत्व दिये सतत् लिया जाता है । सात्विक अन्न की महत्ता अपने स्थान पर है । स्वास्थ्यवर्धक पक्ष पर अधिक विस्तृत चर्चा न भी की जाय तब भी इस कल्प प्रक्रिया से सम्भावित शरीरगत्, मनोगत् परिवर्तनों की चर्चा तो अभीष्ट हो जाती है । एक ही आहार को समग्र मानते हुए शास्त्रों ने उन्हें ग्रहण करने का विधान बनाया है । सच तो यह है कि शरीर के अपने पाचक रस विभिन्न खाद्यान्नों को अपने उपयुक्त परिवर्तित-परिवर्धित करते रहते हैं । दुम्बा मेढ़ा अपने शरीर की चर्बी का सर्वाधिक अंश मात्र घास से प्राप्त कर लेता है । शरीर के पाचक रस सत् जैसी स्वत्व रहित वस्तु को भी उलट-पुलट कर शरीर के लिए उपयुक्त क्षमता वाले रक्त में बदल देते हैं । एकाहार में जो मन संयम जुड़ा है उससे कल्प का प्रयोजन पूरा हो जाता है । शरीर में कोलेस्टेरॉल का घटना, आँतों का सबल होना, कब्ज-आँव की आदत जन्य कष्टकारी प्रतिक्रिया से पूर्णतः मुक्ति, विकारों का निवारण तथा भूख का खुलने लगना जैसे फलदायी परिणाम आहार चिकित्सा के गिनाये जा सकते हैं, जिनका शरीरगत स्वास्थ्य से सीधा सम्बन्ध है । मनोबल में वृद्धि, तनाव का शमन तथा आत्म सन्तोष ऐसी उपलब्धियाँ हैं जिन्हें आहार कल्प करने वाला साधक शीघ्र ही अनुभव करने लगता है । यह तो मात्र मन है जो प्रारम्भ में अड़चन डालता एवं स्वादेन्द्रियों के लिए अभ्यस्त आहार को ग्रहण करने के लिए ठेलता रहता है । यह भी एक परीक्षा है । जो साधक अन्नाहार की एक माह कल्प वाली परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाते हैं, वे आगे और भी बड़ी तपश्चर्या करने के पात्र बन जाते हैं । मात्र एक ही औषधि , दुग्ध अथवा मट्ठे पर रहना तब अधिक अवधि के लिए भी सम्भव है । इस आहार कल्प को कड़ी कल्प चिकित्सा का प्रिमेडीकल टेस्ट माना जा सकता है ।

गेहूँ, चावल-मूँग के सम्मिश्रण से बनी खिचड़ी (अमृताशन), गेहूँ का

दलिया, दाल–चावल एवं दलिया–दाल का सम्मिश्रण अथवा हविष्यान्न (गेहूँ, जौ, तिल) में से किसी एक को कल्प साधना हेतु चुना जा सकता है । गेहूँ, मक्का, मूँगफली, बाजरा, चावल, चना इत्यादि से किसी एक खाद्यान्न को कल्प प्रयोग हेतु एकाकी रूप से साधक वाष्प सिद्ध कर अथवा अंकुरित कर लेते रह सकते हैं । प्रत्येक अपने आप में सम्पूर्ण हैं । प्रारम्भ में मन उचटने पर भी कुछ ही दिनों में यह आहार ऐसा सुस्वादु लगने लगता है कि स्वाद व पोषण दोनों ही प्रयोजन पूरे होते हुए शोधन–कल्प की प्रक्रिया चल पड़ती है । ध्यान यही रखना है कि उनमें से किसी को भी क्षुधा तृप्ति की सीमातक न ग्रहण कर उतना ही लिया जाय जितना निर्धारण प्रारम्भ में किया गया । यह ग्राह्य–पाचन योग्य मात्रा से कम ही हो ताकि उपवास का प्रयोजन भी पूरा हो तथा कल्प के साथ जुड़ी तप–तितिक्षा भी सम्पन्न होती चले । शांतिकुञ्ज में अभी तो दाल–दलिया, अमृताशन, मूँग आदि का क्रम चलता है लेकिन बाद में भिन्नताएँ साधक की प्रकृति के अनुसार बढ़ाई जाती रहेंगी ।

जिस प्रकार कच्चा भोजन स्वाभाविक आहार माना जाता है, उसी प्रकार वाष्प सिद्ध अन्नाहार एक प्रकार का विज्ञान सम्मत, पुष्टिवर्धक, स्वाभाविक, समग्र भोजन कहा जा सकता है । बिना पीसे कच्चा गेहूँ, चावल या कोई अन्य खाद्यान्न तो कोई भी खा नहीं सकता है । प्राकृतिक आहार और उसकी पाक पद्धति में समन्वय बनाये रखने के लिए आवश्यक है कि बिना आवश्यक तत्वों में कोई परिवर्तन लाये उन्हें भाप से ही पकाकर स्वाभाविक रूप में ही उन्हें ग्रहण किया जाय । अनाजों में शक्ति और स्निग्धता, प्राण और लावण्य, उसमें विद्यमान जल तत्व के कारण होते हैं । यदि उन्हें सुखाकर समाप्त कर दिया गया तो प्राण विहीन अन्न किस काम का । स्टार्च–विटामिन्स आदि के बारे में भी यही बात लागू होती है । वाष्प प्रक्रिया से इनकी हानि न्यूनतम होती है तथा ये अवशोषण योग्य रूप में (एसीमिलेबल) में बदल जाते हैं । अंकुरित रूप में अथवा भाप से पकाकर लेने पर, अच्छी तरह चबाकर, रस एन्जाइमों से अन्न के प्राण तत्वों का संयोग करा देने पर ही आहार ग्रहण करने की प्रक्रिया पूर्ण होती है । किसी भी रूप में पेट में तो भोजन जाना ही चाहिए, इससे

भर काम नहीं चलता । स्वास्थ्य सुधार, आमाशय—आँत संस्थान की क्षमता—वृद्धि के अतिरिक्त मनोविकारों के शमन तथा मनोबल वृद्धि हेतु भी ऐसे आहार का कुछ दिन लेते रहना अनिवार्य है । इससे जुड़ा उपवास शोधन तो करना ही है ।

वाष्प सिद्ध प्रक्रिया द्वारा वस्तुतः हमें पाक विद्या में क्रांति ही लानी है । प्रेशर कुकर, स्टीम कुकर आदि इन दिनों खूब प्रचलित हैं । पर उनका प्रयोजन जिसलिये था, उस कार्य में उनका उपयोग नहीं हो पा रहा । समय, श्रम, ईंधन की बचत तथा आहार की गुणवत्ता वृद्धि का यह सर्वश्रेष्ठ साधन माना जा सकता है । पूर्णान्न खिचड़ी, दो अन्न का अमृताशन, सादी खिचड़ी एवं दलिया तो साधारण—सा परिवर्तन मात्र ढर्रे में चाहते हैं । उनमें अनाज (कार्बोहाइड्रेट), मूँग (प्रोटीन), मूँगफली (फैट या वसा) इत्योदि सभी होता है । क्षार—लवण, विटामिन्स (पानी में घुलनशीन) जोड़ना हो तो हरी तरकारी भी डाल सकते हैं । पूर्णान्न खिचड़ी में ज्वार, बाजरा या गेहूँ में से कोई एक अनाज १०० ग्राम (अंकुरित), अंकुरित मूँग ३० ग्राम, अंकुरित मूँगफली १० ग्राम, १० ग्राम नारियल, लगभग पाव भर पानी तथा मात्र १ चम्मच सैंधव नमक डाला जाता है । थोड़ी सी हल्दी और डाली जा सकती है । इसमें सारे पोषक तत्त्व विद्यमान हैं । सादी खिचड़ी में १०० ग्राम चावल, ५० ग्राम अंकुरित मूँग, १० ग्राम अंकुरित मूँगफली, लगभग १।२ किलो पानी, नमक २।। ग्राम डालते हैं । पाचन प्रक्रिया को फिर से अपने सही रूप में लाने के लिए यह एक सर्वश्रेष्ठ आहार है । दलिया खाना हो तो मोटा दला हुआ अन्न ५० ग्राम, १५० ग्राम पानी, ३० ग्राम गुड़ की राव या शर्करा एवं ५ ग्राम नमक डालकर सुपाच्य सुस्वादु बनाया जा सकता है । इस आहार में पोषण के सभी तत्त्व विद्यमान है । रोटी की अपेक्षा यह अधिक स्वादिष्ट व सुपाच्य है । अमृताशन में समानुपात में दाल व चावल लेकर नाममात्र का सैंधव लवण तथा हल्दी डाली जाती है । अपनी आवश्यकतानुसार मात्रा निर्धारित कर कोई भी व्यक्ति मात्र इतने पर भी रह सकता है ।

चावल, गेहूँ और मोटे अनाज भारत के मुख्य खाद्यान्न हैं । ये कैलोरी प्राप्ति के सस्ते से सस्ते साधन माने जाते हैं । भारत की बहुसंख्य

जनता को ७० से ८० प्रतिशत कैलोरी इन्हीं से मिलती है । पर इनके बारे में ठीक जानकारी न होने से सामान्यतया इन्हें विकृत रूप से लेकर नष्ट कर दिया जाता है । फलतः ग्रहण करते हुए भी व्यक्ति कुपोषण का शिकार बना रहता है । कुपोषण खाद्य का अभाव ही नहीं विकृति भी है–यह अच्छी तरह समझा जाना चाहिए । चावल में खाद्यान्न प्रोटीन अच्छी मात्रा में होते हैं । बिना पालिश किया चावल लिया जाय तो उसकी पोषण क्षमता अच्छी होती है–इसमें सामान्यतया १२.६ प्रतिशत आर्द्रता , ८.५ ग्राम प्रतिशत प्रोटीन्स, ०.६ ग्राम प्रतिशत वसा, ७७.४ ग्राम प्रतिशत कार्बोज, ०.९ प्रतिशत खनिज लवण, ३४९ कैलोरी प्रति १०० ग्राम होते हैं । प्रति १०० ग्राम में १० मिली ग्राम विटामिन–बी१, ४ मिली ग्राम विटामिन–बी२ तथा ०.१२ मिली ग्राम विटामिन–बी६ होता है । गेहूँ (दले हुए) में आर्द्रता कुछ कम, प्रोटीन १८.२ ग्राम प्रतिशत, वसा १.६ ग्राम प्रतिशत, कार्बोज ७७ ग्राम प्रतिशत, ऊर्जा ३५६ कैलोरी प्रति १०० ग्राम तथा कैल्सियम, फास्फोरस व लोहा क्रमशः ३७, ३९४ व ५ मिली ग्राम की मात्रा में होते हैं । यह सन्तुलन की दृष्टि से श्रेष्ठ अनुपात है । ज्वार, बाजरा, जौ, कुट्टू, कंगनी, मकई, जई, रागी, मुरमुरा, सौंवा, कुठकी आदि मोटे अनाजों की श्रेणी में आते हैं जिनमें न्यूनाधिक रूप से उपरोक्त सम्मिश्रण सन्तुलित अनुपात में होता है ।

दालों में चना, उड़द, लोबिया, मूँग, कुलथी, मसूर, मोठ, मटर, राजमाह, अरहर एवं सोयाबीन की गिनती होती है । इनमें भी चना वसा (५.३ ग्राम प्रतिशत), प्रोटीन्स (१७.१ ग्राम प्रतिशत) तथा कैल्सियम, फास्फोरस, लोहा (क्रमशः २०२, ३१२, १०.२ मिली ग्राम प्रतिशत) की दृष्टि से सर्वाधिक सम्पन्न माना जाता है । मूँग में प्रोटीन का अनुपात २४ ग्राम प्रतिशत व वसा का १.३ प्रतिशत है लेकिन खनिज लवणों तथा विटामिन–बी की दृष्टि से यह भी अपने आप में समग्र है (कैल्सियम १२४, फास्फोरस ३२६, लोहा ७.३) । इनमें स्वाभाविक रेशे भी ४.१ ग्राम प्रतिशत की मात्रा में होते हैं जो पाचन प्रक्रिया में सहायक होते हैं । सभी खाद्यान्नों का विवरण देना तो सम्भव नहीं, पर जहाँ जैसा भी उपलब्ध हो उसी को स्वाभाविक रूप से लिया जा सके तो समग्र पोषण आहार अपने

आप में ये खाद्यान्न भी बन सकते हैं, इस तथ्य का प्रतिपादन किया जा रहा है । अंकुरीकृत अन्न वाष्प सिद्ध होकर उन सभी उपादानों को—जो शरीर निर्माण हेतु आवश्यक हैं, समुचित मात्रा में पहुँचाते हैं व अपने सूक्ष्मतम रूप में अवशोषित होकर शोधन प्रक्रिया में सहायक होते हैं । इस तथ्य भर को समझ लिया जाय तो खाद्य सम्बन्धी अधिकांश समस्याऐं हल हो कसती हैं । जहाँ कुपोषण, खाद्य में पोषक तत्वों का अभाव एक समस्या है, वहाँ उनकी विकृति से शरीर को होने वाली हानि अपने आप में एक विडम्बना है, जिससे बहुसंख्यक लोग पीड़ित देखे जाते हैं । साधना क्षेत्र में उतरने के पूर्व खाद्य की शक्ति सामर्थ्य का उद्‌भव व उससे अपनी जीवनी शक्ति में वृद्धि करने की विद्या समझना प्रत्येक के लिए अभीष्ट है ।

(४) फलाहार कल्प–

फलों में जिन्हें प्रमुख माना जाता है, वे हैं—आम, खरबूजा, पपीता, छुहारा, जामुन, सन्तरा, केला, शहतूत, फालसा, सेव, नाशपाती, अमरूद, शरीफा । यों तो गूदेदार, ठोस व रसीले फलों में और भी कई हैं पर वे कल्प की दृष्टि से उपयुक्त नहीं । ऊपर वर्णित फलों में भी कुछ ऐसे हैं जो अत्यधिक मँहगे होने के कारण सबके द्वारा लिया जा सकना सम्भव नहीं । फल विटामिन–सी के अच्छे स्रोत हैं । इनमें कैरोटीन व बी–काम्पलेक्स भी प्रचुर मात्रा में होता है । सर्वाधिक प्रयुक्त केला कार्बोहाइड्रेट की दृष्टि से सम्पन्न है । यदि एक ही आहार पर रहना हो तो प्रकृति के निर्धारणानुसार किसी भी एक फल पर आसानी से रहकर एक माह की अवधि पूरी की जा सकती है । फल पथ्य भी हैं, औषधि भी । यह एक प्रामाणिक तथ्य है कि फलों से सिट्रिक एवं अन्यान्य अम्ल रसों के प्रभाव से रोगाणु बच नहीं पाते । इस प्रकार से ये आंत्रशोधक प्रक्रिया के साथ ही साथ बलवर्धन भी करते हैं । ये शरीर को हितकारी जीवाणु फ्लोरा को भी जन्म देते हैं । फलों की एक विशेषता है कि ये सभी क्षार धर्मी होते हैं । अम्ल धर्मी खाद्य लेने और अन्यान्य विहार की त्रुटियों के कारण जो अम्ल विष उत्पन्न होता है, फलों का क्षारधर्मी रस उन्हें नष्ट कर देता है । शरीर में संचित यूरिक एसिड (जो गठिया, वात रोग, गुर्दे की बीमारी, हृदय रोग आदि के लिए उत्तरदायी

होता है) जैसे विष को भी ये निकाल बाहर करता है । सभी फल अत्यन्त सुपाच्य होते हैं । उनका ताप मूल्य अति अल्प होता है । इसी कारण फलाहार से उपवास करना एक प्रकार की चिकित्सा कहा गया है ।

कल्प की दृष्टि से चार फल ही निर्धारित हैं, उपयुक्त माने गये हैं–आम, खरबूजा, पपीता एवं अमरूद । आम तो खट्ठा–मीठा फल माना गया है । यह कार्बोहाइड्रेट (११.८ ग्राम प्रतिशत), विटामिन–ए (४८०० यूनिट्स प्रति १०० ग्राम) तथा विटामिन–सी (२१ मिली ग्राम प्रतिशत) से युक्त है । मौसम के दिनों में ताजा डाल पर पका आम उपलब्ध हो सकता हो तो शोधन–पोषण की दृष्टि से वह एक सर्वांगपूर्ण आहार है । आम की मंजरियाँ, बौर या पुष्प भी एक प्रकार की औषधि है । इन्हें अतिसार, कफ, पित्त, प्रमेह में दिया जाता है । ये प्रदर नाशक व मलरोधक माने गये हैं । पका आम वीर्यवर्धक, सुखदायक, वातनाशक, वर्ण को सुन्दर बनाने वाला, पित्त शामक, कसैला, अग्नि–कफ तथा शुक्रवर्धक है, श्लेष्मा तथा रुधिर के विकारों को दूर करता है । यह दस्तावर तभी होता है जब कृत्रिम रूप से बनाया जाता है । चूसने वाला आम हल्का, सुपाच्य, विषनाशक व बलवर्धक है जबकि काटा हुआ आम आलस्य बढ़ाता व देर से पचता है । कल्प के लिए आम चूसे जा सकने वाले, ताजे, पतले रस युक्त, मीठे ही प्रयुक्त होते हैं । मात्रा धीरे–धीरे बढ़ाई जाती है । अन्तिम समय में धीरे–धीरे मात्रा कम कर दूध लेने लगते हैं । कल्प काल में यथा सम्भव पानी नहीं लिया जाता । कमजोर व्यक्तियों को समानुपात में प्रारम्भ से दूध साथ लेना हितकारी होता है । जिन्हें शोधन व मेदोनाश अभीष्ट है, वे बिना दूध के आम कल्प करें । यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि अधिक आमखाने से मंदाग्नि , विषम ज्वर, रक्त विकार, कब्ज भी पैदा हो सकता है । अतः मात्रा धीरे–धीरे ही बढ़ाकर आधा उपवास कर लेना श्रेष्ठ है ताकि पाचन प्रक्रिया पूरी हो सके व कल्प प्रयोजन सम्पन्न हो सके ।

आम कल्प स्वस्थ व्यक्ति तो कर ही सकते हैं । संग्रहणी, श्वास, अरुचि, अम्ल, पित्त, यकृति वृद्धि रोगियों में यह विशेष भूमिका निभाता है । क्षय, फुफ्फुस–व्रण और दौर्बल्य में यह मांस–रक्त–मज्जा बढ़ाता है ।

आम्रकल्प की अवधि में यदि वायु शूल अथवा कफ का प्रकोप होता दिखाई पड़े तो अदरक व सैंधव लवण थोड़ी मात्रा में लेने से सामयिक कष्ट निवारण हो जाता है । इससे यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि शरीर शोधन सामर्थ्य से कहीं अधिक मात्रा में ली जा रही है । आम के रस के साथ जब भी लिया जाय, धारोष्ण गौ दुग्ध ही लिया जाय ।

खरबूजा एक सर्वसुलभ सस्ता फल है । जिसका बहुधा कल्प किया जाता है । इसे फलराज या दशांगुल भी कहते हैं । यह सात्वीकरण उत्पन्न करने वाला औषधि समान फल है जो ग्रीष्म ऋतु में सब जगह उपलब्ध होता है । आयुर्वेद मतानुसार इसे मूत्रल, बलवर्धक, कोष्ठ शोधक, वीर्यवर्धक, उन्माद नाशक तथा उदर विकार शामक बताया गया है । हृदय रोगियों के लिये यह उत्तम औषधि है । इसका कल्प भी निरापद है । स्त्रियों के गर्भाशय के अपने स्थिति से हटने पर शिराओं पर दबाव से जो सूजन पैदा हो जाती है उस स्थिति में खरबूजे का कल्प लाभ करता है । खरबूजा व दूध एक साथ कभी नहीं लिये जाते । यदि मध्यावधि में दस्त आने लगें तो बीज का छिलका घोंट कर पानी के साथ देने से तुरन्त आराम मिलता है ।

खाद्य विज्ञान की दृष्टि से इस फल में ७८ प्रतिशत खाद्य भाग तथा ९५.२ प्रतिशत आर्द्रता होती है । प्रोटीन, वसा, कार्बोज क्रमशः ०.३, ०.२, ३.५ ग्राम प्रतिशत तथा विटामिन–ए १९६ युनिट्स, विटामिन–सी २६ मिलीग्राम कैल्सियम ३२ व फास्फोरस १४ मिलीग्राम प्रतिशत होते हैं । अपनी संरचना व गुणवत्ता की दृष्टि से कल्प प्रयोजन हेतु यह एक श्रेष्ठ फल है । आजकल रसीले फल व अन्य फल जहाँ बासी अवस्था में 'कोल्ड स्टोरेज' से उपलब्ध होते हैं, वहाँ खरबूजा ताजी अवस्था में ग्रीष्म में उपलब्ध रहता है ।

पपीता एक ऐसा फल है जिसमें रेचक एवं ग्राही दोनों ही गुण पाये जाते हैं । इसका कल्प आमाशय की कमजोरी, अग्निमंदता, कोष्ठबद्धता के रोगी के लिए तथा बवासीर से त्रस्त व्यक्तियों के लिए बहुत लाभदायक रहता है । पके पपीते में ७५ प्रतिशत खाद्य भाग होता है । ९० प्रतिशत आर्द्रता के अतिरिक्त इसमें ०.६ ग्राम प्रोटीन, ०.१ ग्राम वसा, ०.५ ग्राम खनिज लवण प्रति १०० ग्राम तथा ७.२ ग्राम प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट होता

है । कैल्सियम १७ मिली ग्राम, फास्फोरस २३ मिली ग्राम, विटामिन 'ए' ३६६ माइक्रोग्राम, तथा विटामिन सी. ५७ मिली ग्राम प्रतिशत होते हैं । यह अपने आप में एक समग्र टानिक का फार्मूला है । इसके एन्जाइम अपने आप में चमत्कारी हैं । पाचन संस्थान को वे सबल बनाते हैं तथा बिगड़े हुए संस्थानिक कार्य को पटरी पर लाते हैं । यकृत वृद्धि में यह औषधि के समान काम करता है । कृमियों को मारने की सामर्थ्य भी इसमें है । यह एक उत्तम रक्त शोधक है । ताजा पपीता जो डाल पर पका हो, धीरे-धीरे मात्रा बढ़ाते हुए लिया जाय एवं सामान्य आहार पर आते समय कम कर दिया जाय ।

अमरूद सर्वांग उपयोगी समग्र आहार है । इसे विटामिन 'सी' प्रधान फल माना जाता है । जहाँ नीबू में ३१ से ६८ मिली ग्राम प्रति सौ ग्राम विटामिन 'सी' होता है, वहाँ अमरूद में ३०० से ४५० मिलीग्राम तक । अधिक पका अमरूद स्वाद में तो मीठा होता है पर खाद संरचना एवं विटामिनों की मात्रा की दृष्टि से अत्यन्त कमजोर । कड़ा छिलके वाला अमरूद अर्ध पक्वता की स्थिति में ही खाया जाना चाहिए । अमरूद के फलों में आर्द्रता ८१.७ प्रतिशत, प्रोटीन्स ०.९ ग्राम प्रतिशत, कार्बोज ११.२ ग्राम प्रतिशत तथा कैल्सियम, फास्फोरस, लोहा क्रमशः १०, २३ एवं १.५ मिलीग्राम प्रतिशत होता है । विटामिन ए इसमें नहीं होता लेकिन बी कॉम्पलेक्स, बी, सी की दृष्टि से सुसम्पन्न है । आयुर्वेद मतानुसार यह मधुर कषाय, शीत, पित्त शामक, कफ, वात वर्धक, मूत्रल व आमाशय शोधक है । पीलिया, मूत्र कृच्छ्र, अश्मरी (पथरी) के लिए यह औषधि है ।

इन चारों फलों के अतिरिक्त केला, जामुन, छुआरा, संतरा, शहतूत, फालसा, सेव, नाशपाती, बिल्व एवं शरीफा इत्यादि फलों का भी कल्प परिस्थिति एवं प्रकृति के अनुसार किया जा सकता है ।

(५) शाकाहार कल्प-

हरी तरकारियाँ हमारे शाकाहारी राष्ट्र का प्रमुख भोजन हैं । पालक, चौलाई, मेथी, बथुआ, तोरई, परवल, लौकी, टमाटर व ककड़ी ऐसी तरकारियाँ हैं जो सर्वोपलब्ध हैं । इनमें सभी सर्वगुण सम्पन्न हैं व इनमें से किसी एक पर बने रहना प्रत्येक के लिए सुगम है । ये सभी कैल्सियम,

लोहा, कैरोटीन (विटामिन ए, विटामिन सी), राइबोफ्लेबिन एवं फौलिक अम्ल के श्रेष्ठतम स्रोतों में गिनी जाती हैं । सामान्य स्वास्थ्य को बनाये रखने, विकारों का शोधन करने तथा स्वास्थ्य सम्वर्धन के विविध उद्देश्यों को पूरा करने में उनकी भूमिका सर्व विदित है । मूल व केन्द्र प्रधान खाद्य कार्बोज के स्रोत होते हैं । इनका स्टार्च पचने में कठिन होता है, अतः इनका कल्प कुछ कठिन है । फिर भी गाजर एवं शकरकन्द ऐसे दो कन्द हैं जिनका प्रयोग किया जा सकता है ।

आयुर्वेद के शाक वर्ग प्रकरण के अन्तर्गत इनका वर्णन करते हुए उन्हें चिकित्सार्थ सर्वोत्तम यथार्थ माना है । चरक, सुश्रुत, बाग्भट्ट, चक्रपाणि, भाव निदा प्रभृति विद्वानों ने इस वर्ग की महत्ता का आयुर्वेद में विस्तार से वर्णन किया है । मूलतः इन सभी के भीतर ९० प्रतिशत भाग जल का होता है । अमिश प्रोटीन व वसा भी उनमें कम होता है लेकिन खनिज लवण तथा विटामिनों की दृष्टि से ये सम्पन्न माने जाते हैं । देह की कार्य क्षमता बढाने, परिपाक शक्ति को तेजवान बनाने, अस्थि-दाँतों के निर्माण आदि में उनकी भूमिका असंदिग्ध है । इनके भीतर सेल्युलोज नामक पदार्थ यथेष्ट मात्रा में होता है । यह आँतों में उपस्थित मल को सूखने से कड़ा नहीं होने देता । आँतों को सदैव गतिशील बनाये रखना इसका मूल कार्य है । इससे कब्ज व उस विकृति से अन्य अनेकानेक रोगों से निवृत्ति मिलती है । अन्य प्रोटीन प्रधान खाद्य (दालें-अन्नादि) से जो रक्त में अम्लता उत्पन्न होती है, उसका भी निवारण शाक वर्ग में विद्यमान क्षार सत्व से हो जाता है । इनके पत्ते सूर्य से आहार सीधे ग्रहण करते हैं (फोटो शिन्थेसिस् प्रक्रिया द्वारा) । अतः ये मनुष्य के लिए एक परिपूर्ण खाद्य बनाते हैं । कल्प की दृष्टि से-विशेषकर साधना क्षेत्र में शाकों को सर्वाधिक महत्व दिया जाता है । इनकी कारण शक्ति के बलबूते ही इन्हें यह श्रेय मिला है ।

इन शाकों में पालक सर्वाधिक जनप्रिय है । यह विशेष रूप से लोहा (१०.९ मिली ग्राम प्रतिशत), कैल्सियम (७३ मिलीग्राम प्रतिशत) प्रधान पत्तीदार साग है । अन्य खनिज भी इसमें प्रचुर मात्रा में होते हैं । रक्ताल्पता, रक्त पित्त एवं संग्रहणी में यह विशेष रूप से लाभकारी है । यह पथ्य में शीतल है । कोष्ठबद्धता, कब्ज, मूत्र सम्बन्धी रोग, गुर्दे के

संक्रमणों को इसका क्षार भाग समाप्त कर देता है । यह पीलिया रोग में तथा अर्श में भी विशेष लाभकारी है । हर ज्वर के बाद पालक के रस को लिये जाने का शास्त्रोक्त विधान पूर्णतः विज्ञान सम्मत है । यही आधार इसके कल्प का भी है ।

चौलाई एक सस्ता सर्वोपलब्ध साग है । इसमें लोहा लगभग २५ मिली ग्राम प्रतिशत तथा कैरोटीन ५५०० माइक्रोग्राम होता है । अन्यखनिज लवण भी प्रचुर मात्रा में होते हैं । प्रोटीन व बी कॉम्लेक्स समूह के विटामिन की सन्तुलित मात्रा इसमें है । इसका सूप या पंचांग का कल्प बनाकर खाते हैं । महर्षि चरक के अनुसार यह रूक्ष, विषघ्न, कफ, पित्त शामक, रक्त पित्तहर, मूत्रल तथा सारक है । प्रदर रक्त, वमन, अर्श में यह विशेष लाभकारी है । इसे संस्कृत ग्रन्थों में तन्डुलीय, मेघनाद, अल्हमारिष नामों से पुकारा गया है । इसका शाक अपने आप में सम्पूर्ण भोजन है । यह मल-मूत्र दोनों को साफ करने वाला श्रेष्ठ निस्सारक व रक्त शोधक है । इसकी जड़ गर्म, कफ नाशक, रजोरोधक, प्रदर निवारक है । एक ही पौधे में दो विपरीत गुण (जड़ गर्म व पत्ते ठण्डे) इसकी एक अद्भुत विशेषता है ।

मेथी को मेथिका, दीपनी, मन्था कई नामों से ऋषियों ने सम्बोधित कर कहा है कि यह शाक वात-कफ शामक, ज्वर विनाशक है । यह एक प्रकार का टॉनिक है । संग्रहणी, अग्निमन्दता व वात रोगों के लिए श्रेष्ठ औषधि है । यह रुचिकारक, भूख बढ़ाने वाली, यकृत-पित्ताशय के रसों को बढ़ाने वाली, मल को बाँधने वाली औषधि है । मेथी के पत्ते पित्त शामक व शोथ नाशक होते हैं तथा बीज कृमि नाशक, मधुमेह नाशक हैं । मेथी में मूलतः कैल्सियम (३९५ मिलीग्राम प्रतिशत), फास्फोरस (५१ मिलीग्राम प्रतिशत), लोहा (१६.५ मिलीग्राम प्रतिशत) तथा कैरोटीन (२३४० माइक्रोग्राम प्रतिशत) होते हैं । अपनी गुणवत्ता के कारण इसे पथ्य व कल्प हेतु शास्त्रों में उत्तम माना जाता है ।

रोगों के निवारण व बल-बुद्धि हेतु मेथी की चर्चा कई स्थानों पर की गयी है । पंच कर्म से शुद्धि के उपरान्त प्रतिदिन एक या दो तोले कच्ची मेथी, मूँग की दाल व जौ की रोटी का पथ्य रोगी को नित्य दिया

जाता है । दूसरे सप्ताह ४ से ८ तोला एवं तीसरे सप्ताह आठ से बारह तोला इस प्रकार बढ़ाते हुए क्रमिक विकास में देखा जा सकता है कि रोगी की भूख खुल रही है एवं जीवनी शक्ति बढ़ रही है । साल भर तक इसके मोदक या सूखे साग का भी सेवन किया जा सकता है । मेधा वृद्धि, रक्त शोधन, जरा निवारण, नवयौवन की प्राप्ति इस कल्प के अतिरिक्त लाभ हैं ।

बथुआ उत्तर भारत में अधिक लोकप्रिय साग है । इसे आदि ग्रन्थों में क्षारपत्र, वास्तुक, शाकराज नाम से सम्बोधित किया गया है । सभी आयुर्वेदिक निघण्टुओं में इसका शाकराज नाम से वर्णन है । यह अग्निदीपक, रुचिवर्धक, शुक्रवर्धक, कृमिनाशक तथा त्रिदोष हर है । यह ज्वर मिटाता है, छिपे दोषों को निकाल बाहर करता है । इसमें खनिज लवण (२.६ ग्राम प्रतिशत), कैल्सियम (१५० मिलीग्राम), फास्फोरस (८० मिलीग्राम), लोहा (४.२ मिलीग्राम) तथा कैरोटीन, बी कॉम्प्लेक्स व सी विटामिनों की भी अच्छी मात्रा होती है । इसका क्षार अंश मल-मूत्र शोधक है । बढ़े यकृत, गम्भीर क्षयरोग, हृदय में रक्तावरोध, जलोदर एवं बवासीर जैसी असाध्य व्याधियों में यह औषधि एवं पथ्य दोनों ही भूमिका निभाता है ।

यह सर्वविदित है कि गाजर विटामिन ए, फास्फोरस तथा कार्बोज का (क्रमशः १८९० माइक्रोग्राम, ५३० मिलीग्राम, ११ ग्राम प्रति १०० ग्राम) उत्तम स्रोत है । इसी प्रकार ककड़ी (कर्कटी) कार्बोज, फास्फोरस तथा थायमिन (२.५ मिलीग्राम, ०.०३ मिलीग्राम प्रति १०० ग्राम) एवं पके टमाटर कैल्सियम, फास्फोरस, कैरोटीन, बी कॉम्पलेक्स व सी समूह (४८, २०, ३५१, ०.१२ एवं २७ यूनिट्स १०० ग्राम) की दृष्टि से सुसम्पन्न हैं । प्रश्न संरचना का नहीं इनकी खाद्य की दृष्टि से गुणवत्ता, पाचन क्षमता व पाचक रसों को उत्तेजित करने की सामर्थ्य का है । इसी प्रकार परवल, तोरई, लौकी उत्तम शाक हैं एवं संरचना की दृष्टि से समग्र । इनमें से किसी भी एक को अपना खाद्य चुनकर माह भर का कल्प किया जा सकता है । फलाहार से शाकाहार की महिमा अधिक गायी गयी है । वे प्रकृति के और भी समीप हैं । इनकी उपलब्धि हर मौसम में संभव है ।

सुविधापूर्वक इन्हें अपने ही घर आँगन में बोकर हर व्यक्ति बिना पराश्रित हुए यथेष्ट मात्रा में बिना अधिक विकृति किये इनका कल्प कर स्वास्थ्य लाभ तथा साधना पथ्य के दोनों ही प्रयोजन पूरे कर सकता है ।

(६) औषधि कल्प–

एक ही अन्न के आहार कल्प की तरह औषधि कल्प का भी अपनी जगह महत्व है । काष्ठ औषधियाँ मात्र चिकित्सा हेतु नहीं दी जाती । वे कल्प साधकों की अन्तःशक्ति को उभारती व जीवनी शक्ति को बढ़ाती हैं । कल्पकाल के ये सभी उपक्रम व्यक्ति के आध्यात्मिक, मानसिक एवं शारीरिक त्रिविध पक्षों के समग्र समुच्चय को परिवर्तित करने के लिए नियोजित माने गये हैं । स्थूल औषधियाँ तो बाह्योपचार भर कर पाती हैं परन्तु दिव्य वनौषधियाँ अन्तःकरण का भाव कल्प करने में सफल होती हैं ।

वनौषधि पंचकर्म चिकित्सांक के विद्वान लेखक पं. हरिनारायण शर्मा वैद्यराज के अनुसार "कल्पेन विधि विशेषण कल्प चिकित्सा" अर्थात् विशेष विधि से की गई चिकित्सा । रसायन सेवन द्वारा कुटी प्रावेशिक एवं वात तापिक विधि से शरीर को नवयौवन प्रदान कर स्फूर्ति भर देने की चर्चा सभी विद्वानों ने समय–समय पर की है । उन सब का मूल उद्देश्य शरीर के शोधन–नव निर्माण पर ही केन्द्रित रहा है । परन्तु मात्र यही कल्प का अर्थ नहीं है । कल्प एक वृहत् परिधि में शरीर मन–भाव संस्थान के परिवर्तन की स्थिति का नाम है । इस कार्य में दिव्य औषधियाँ एकाकी प्रयोग के रूप में मनःस्थिति के अनुरूप प्रयुक्त की जाती हैं एवं लाभ पहुँचाती हैं ।

तुलसी, ब्राह्मी, शंखपुष्पी, अश्वगंधा, शतावरी, शुण्ठी, पलाश, वाकुची, गुडूची, आँवला, हरीतकी, निर्गुण्डी, मुण्डी, चित्रक, मुसली, कुमारी, शाल्मकी, काकजंघा, बच लक्ष्मण, ब्रह्मदण्डी, ज्योतिष्मती, पुनर्नवा, त्रिफला, गोक्षुर, विधारा, वासा, मोथा, काकोली, जीवन्ती, बिल्व, भृंगराज, अमलतास, चोपचीनी इत्यादि अनेकानेक औषधियों की चर्चा ग्रन्थों में एकाकी अथवा न्यूनाधिक सम्मिश्रण के रूप में कल्प प्रयोजन हेतु की गई है । जितनी भिन्नतायें हैं उतनी ही तरह की फलश्रुतियाँ हैं । मनःसंस्थान के शोधन, सुसंस्कारों की

प्रतिष्ठापना, मेधा सम्वर्धन, प्रखरता सम्पादन की दृष्टि से शान्तिकुञ्ज की कल्प साधना में तुलसी, ब्राह्मी, शंखपुष्पी, अश्वगंधा, शतावरी, आँवला, गिलोय, विधारा, वासा एवं बिल्व इन दस औषधियों को ही प्रयोग में लाया जाता है ।

इनमें तुलसी का स्थान सर्वोपरि है । यह एक संजीवनी बूटी है जो सीधे कारण शरीर को प्रभावित करने वाली निराली औषधि मानी जाती है । इसके नियमित सेवन से शरीर श्रुति तथा स्वास्थ्य रक्षा का प्रमुख आधार बनता है ।

वैज्ञानिक, ऋषियों, आचार्यों द्वारा गौ, गंगा, गीता, गायत्री की तरह तुलसी वृक्ष को भी भारतीय धर्म और संस्कृति का आवश्यक अंग मानना इसकी उपादेयता के फलस्वरूप ही है । तुलसी के गुणों का वर्णन करते–करते शास्त्रकार थक गया तो उसने एक वाक्य में सारी गाथा समाप्त कर दी–

अमृतोऽमृतरूपासि अमृतत्वप्रदायिनी ।
त्व मामुद्धर संसारात् क्षीरसागर कन्यके ।।

विष्णुप्रिय ! तुम अमृत स्वरूप हो, अमृतत्व प्रदान करती हो, इस संसार से मेरा उद्धार करो ।

तुलसी की पूजा–अर्चा से वस्तुतः कोई स्वर्ग उपलब्ध होता है या नहीं, ज्ञात नहीं किन्तु रोग–शोक के नरक में फँसे हुए लोगों के लिए तुलसी सचमुच इतनी उपयोगी पाई गई है कि उसे "उद्धारकर्त्री" ही कहा जा सकता है ।

तुलसी के अनेक गुणों का प्रकाश उसके अनेक पर्यायवाची नामों से ही हो जाता है । तुलसी के पत्ते चबाने से मुँह में लार, जो कि अत्यन्त पाचक, अग्निवर्धक, भूख बढ़ाने वाला तत्त्व है, बढ़ती है इसलिए उसे सुरसा कहा है । दूषित वायु, रोग और बीमारी के कीटाणु 'वायरस' रूपी भूत, राक्षस और दैत्यों के मार भगाने के कारण उसे भूतघ्नी, अपेतराक्षसी तथा दैत्याघ्नी कहते हैं । हिस्टीरिया, मृगी, मूर्छा, कुष्ठ आदि रोग जिन्हें पूर्व जन्मों के पाप कहा जाता है, वस्तुतः जो दीर्घकालीन विकृतियों (पापों) के फलस्वरूप असाध्य रोग पैदा हो जाते हैं और जो बहुत उपचार करने पर

भी अच्छे नहीं होते वह भी तुलसी से अच्छे हो जाते हैं इसीलिए उसे पापघ्नी कहा गया है । इसका एक नाम फूल-पत्री है । अर्थात् इसके पत्ते चबाने से शरीर शुद्ध होता है और शरीर में जीवनी शक्ति बढ़ती है । गौरी तंत्र तुलसी माहात्म्य में बताया है-

तुलसी पत्र सहितं जलं पिबति यो नरः ।
सर्व पापविनिर्मुक्तो मुक्तो भवति भामिनी ॥ ३ ॥

तुलसी दल को जल में डालकर जो उस शीत-कषाय को पीते हैं वे अनेक रोगों से छुटकारा पाते हैं । चरणामृत वस्तुतः एक प्रकार का शीत-कषाय ही है । राजनिघण्टु करवीरादि १५२ में बताया है कि यह स्वाद और भोजन की रुचि बढ़ाती है, कीड़ों और छोटे कृमियों को, जो आँख से नहीं दिखाई देते (वायरसों) को मारती है । चरक ने इसे दमा, पसलियों के दर्द, खाँसी, हिचकी तथा विषों का दूषण ठीक करने में लाभदायक लिखा है । यह कफ दूर करती है, इसमें कपूर की तरह की एक सुगन्ध होती है जो दुर्गन्ध मिटाती है ।

चिकित्सा पक्ष के अतिरिक्त इसकी सूक्ष्म सात्विक सामर्थ्य सर्वविदित है । सामान्य कायाकल्प करने वाले ग्रन्थों में तो मात्र रसायनों की चर्चा है, परन्तु तुलसी जैसी महौषधि तो रसायन कर्म से भी अधिक श्रेष्ठ गुण रखती है । यह आर्षग्रन्थों मात्र में भी वर्णित है । इसके अनेकानेक भेदों में से मात्र रामा या श्यामा तुलसी का ही कल्प हेतु प्रयोग होता है । ५० ग्राम की मात्रा में कल्प में सेवन अतीव लाभकारी सिद्ध होता है ।

आधि-व्याधि निवारण शब्द में कुसंस्कार-निष्कासन, स्वास्थ्य-संवर्धन एवं सद्गुण-प्रतिष्ठापन के सिद्धांत गुँथे हुए हैं । शास्त्रकार लिखते हैं-

त्रिकालम् विनता पुत्र पाशर्य तुलसी यदि ।
विशिष्यते कायशुद्धिश्चान्द्रयाण शतं विना ॥

अर्थात्-'हे विनता पुत्र ! प्रातः, मध्यान्ह तथा शाम को, जो तीनों संध्याओं में तुलसी का सेवन करता है उसकी काया वैसीही शुद्ध हो जाती है, जैसी कि सैकड़ों चान्द्रायण व्रतों से होती है ।' वस्तुतः तुलसी ' एक महत्वपूर्ण आध्यात्मिक कायाकल्प योग है । शरीर का बाह्य-अभ्यान्तरिक

शोधन कर यह सामर्थ्य बढ़ाती है, चिन्तन को सतोगुण प्रधान तथा चरित्र को निर्मल बनाती है । कल्प चिकित्सा विधान में तुलसी पत्रदल चूर्ण को गंगाजल से संस्कारित किया जाता है तथा कल्क रूप में उसे नियमित रूप से ५० ग्राम (लगभग १० चम्मच) की मात्रा में सेवन करने का विधान बनाया गया है ।

तुलसी के बाद दिव्यता की वरीयता में ब्राह्मी का नाम दूसरे स्थान पर है । ब्राह्मी के कुटी प्रावेशिक विधि द्वारा कायाकल्प का वर्णन शास्त्रों में आया है । मेधावर्धन, उत्तेजना शमन, तनाव निवारण, वात आदि प्रकोपों से पीड़ित काया के दोषों को नष्ट करने के लिए इससे श्रेष्ठ कोई औषधि नहीं । ब्राह्मी स्वरस को गो दुग्ध में, ब्राह्मीपत्र का शाक, ब्राह्मी को घृत में भून अथवा मुलहटी-इचाइची के सम्मिश्रण से लेने की विभिन्न रोगों में व्यवस्था की जाती है। शुक्लपक्ष में संग्रहीत ब्राह्मीपत्र चूर्ण को गौ दुग्ध के साथ "ॐ अमृतोभ्वाय अमृतंकुरु" इस मंत्र से अभिमंत्रित कर ग्रहण करने का शस्त्रोक्त विधान भी है । कल्पसूत्रों में ब्राह्मी कल्प को तीस से पचास ग्राम की मात्रा में नित्य प्रातः दिया जाता है । आवश्यकतानुसार इसे दोपहर व संध्या को भी लिया जा सकता है परन्तु कुल सत्व की मात्रा किसी भी स्थिति में दिन भर में पचास ग्राम से अधिक नहीं होना चाहिए । बुढ़ापे का नाश, शतायु की प्राप्ति, स्मरण शक्ति में वृद्धि, मनोविकारों से मुक्ति-सभी ब्राह्मी सेवन की फलश्रुतियाँ हैं, जिन्हें साधक धीरे-धीरे अनुभव करने लगते हैं ।

ब्राह्मी की कुछ विशिष्ट औषधियों यथा-तुलसी, आँवला, अर्क गुलाब, गुड़हल, शंखपुष्पी आदि की भावना देकर कल्क बनाने से विशिष्ट लाभ मिलता है । एक माह तक ब्राह्मी का निरन्तर सेवन आयु, बल को बढ़ाता ही है, वर्ण को सुन्दर, वाणी को मुधर तथा बुद्धि को तीव्र करता है । कायाकल्प के लिए मात्रा को कम या बढ़ा कर वर्ष भर अनुपान भेद से व्यक्ति के लिए सेवन का शास्त्रों में विधान है । अपनी कल्प साधना पद्धति में ब्राह्मी का कल्क अभिमंत्रित पुष्पों के रस की भावना के साथ साधकों को प्रातः वन्दनीया माताजी द्वारा दिया जाता है । सरस्वती पंचक की इस महत्वपूर्ण औषधि की आध्यात्मिक सामर्थ्य के विषय में जितना लिखा जाय, कम है ।

शंखपुष्पी को मेधावर्धक, हृदय अवसादक, तनाव शामक माना जाता है । साधना विधि में इसके प्रयोग से एकाग्रता सम्पादन में विशेष लाभ मिलता है । इसके पंचांग का कल्क बनाकर दूध में मिलाकर प्रातः पुष्य रस के साथ देते हैं । दीर्घायुष्य, आसन सिद्धि, प्रखरता सम्वर्धन तथा जीवन रसों के उत्सर्जन द्वारा प्रसुप्त शक्तियों के जागरण की फलश्रुतियों का शंखपुष्पी कल्क के साथ सम्बन्ध जोड़ा जाता है । यह त्रिदोष शामक, मानसिक बल बढ़ाने वाली एक विशिष्ट औषधि है । साधकों की मनःस्थिति का विस्तृत विश्लेषण कर इसके योग्य पाने पर उन्हें प्रातः शंखपुष्पी कल्क दिये जाने का विधान बनाया जाता है ।

अश्वगंधा, वात शामक वल्य रसायन है । नीरोग स्थिति के साधकों के लिए यह प्रकृति का अनुदान स्वरूप पुष्टिवर्धक टोनिक है । जिन साधकों ने संयम द्वारा अपने विकारों का शमन कर लिया है उनके अन्तःबल को उछालने में अश्वगंधा विशेष रूप से सहायक होती है । शतावर भी वल्य रसायन है जिसे सरस्वती पंचक गुणों में गिना जाता है । यह भी पुष्टिवर्धक, जीवनी शक्ति बढ़ाने वाली औषधि है । ये दोनों सीधे अन्तःस्रावी ग्रन्थियों पर प्रभाव डालते हैं । इस प्रकार ये चक्र उपत्यिकाओं पर प्रभाव डालकर उनमें निहित गुह्य सामर्थ्य को जगाती व आत्मिक प्रगति के सोपानों पर ऊँचा चढ़ाती हैं ।

आँवले (धात्रीफल) के प्रयोगों से कायाकल्प सम्बन्धी ग्रन्थों में पृष्ठ भरे पड़े हैं । आँवले को ताजा अथवा चूर्णरूप में दोनों ही प्रकार से लिया जा सकता है । आँवले का रस शहद में मिलाकर अथवा चटनी के अवलेह के रूप में भी लिया जाता है । आँवला खट्टा होने से खटास पैदा कर सकता है । दाँत कसैले हो जाते हैं व उनमें चीस पैदा होने लगती है । किसी को वायुशूल भी होने लगता है । ऐसे में मात्रा कम करके हल्का सा विरेचक द्रव्य तथा धारोष्ण दूध ले लेना हितकारी होता है । आँवले के विषय में कहा जाता है कि यदि सिद्ध किया आँवला नित्य रत्तीभर मात्र भी मनुष्य ग्रहण करता है और सारे नियमों का पालन करते हुए सात्विक चिंतन में लीन बना रहता है तो उसकी काया का रूपान्तरण होने लगता है । सिद्ध किया रस सूक्ष्म से सूक्ष्म स्नायुओं में बिना किसी प्रतिबन्ध के प्रविष्ट

हो विजातीय मल-द्रव्यों को निकाल बाहर करता है । सारे शरीर में समत्व स्थापित कर नवीन निर्माण में इस रसायन की प्रधान भूमिका है । कहा जाता है कि वैखानस, बाल खिल्य एवं च्यवन ऋषिगण ने इसी रसायन से दीर्घायुष्य प्राप्त की ।

आँवले को पिप्पली, बिड़ंग, अमृता, हरीतकी, विभीतक आदि के साथ अलग-अलग विभिन्न योगों में लेने का भी कायाकल्प योग में विधान है परन्तु औषधि एकाकी औषधि ताजे कल्क के रूप में ही लाभ पहुँचाती है । कल्प साधना विधि में निर्धारणानुसार साधकों को प्रातः ५० ग्राम के लगभग अभिमंत्रित आँवला कल्क पुष्परसों की भावना देकर शहद आदि स्निग्ध द्रव्यों के साथ दिया जाता है । एक माह की अवधि में निश्चित ही अनेकों को इससे लाभ मिलता है ।

गिलोय, विधारा, वासा एवं बिल्व भी इसी प्रकार व्यक्ति विशेष की मनःस्थिति के आधार पर निर्धारित किए गये कल्प योग हैं । ये सभी औषधियाँ निश्चित परिमाण में नित्य लेने पर वांछित परिणाम दिखाती हैं । इन्हें आश्रम के परिसर में ही बोया-उगाया गया है । वह सुसंस्कारिता तो इनमें है ही, दिव्यता का समावेश इनकी गुणवत्ता को और बढ़ा देता है ।

कल्प साधना के ये सभी उपक्रम एक ही उद्देश्य के लिए हैं-व्यक्ति के पुराने चले आ रहे ढर्रे को आमूल-चूल बदल देना । इसके लिए जहाँ तप तितिक्षा की दबाव भरी प्रक्रियाएँ अनिवार्य हैं वहीं पर प्रज्ञायोग का साधना उपक्रम तथा औषधि आहार को सात्विक रूप में ग्रहण किया जाना भी । कृत्य के साथ भावना का समावेश कितना अनिवार्य है यह यहाँ आकर एक माह को कुटीवास करने वाला साधक ही समझ सकता है ।

कल्प उपचार का सुदृढ़ वैज्ञानिक आधार

अन्तःकरण का मनः संस्थान पर, मनः संस्थान का शारीरिक स्थिति पर, शारीरिक स्थिति का क्रिया-कलाप पर और क्रिया-कलाप का परिस्थिति पर असाधारण प्रभाव पड़ता है । इस रहस्य को समझा जा सके, तो यह स्वीकार करने में किसी को भी कठिनाई का सामना न करना पड़ेगा कि मनुष्य अपने भाग्य का विधाता आप है । मनःस्थिति ही परिस्थितियों की जन्मदात्री है इस तथ्य को समझा जा सके तो जिस-तिस पर दोषारोपण की आवश्यकता न रह जायेगी । तब परिस्थितियों की प्रतिकूलता को भी उतना दोषी न ठहराया जा सकेगा जितना कि इन दिनों बात-बात में समस्त असफलताओं और कठिनाइयों के लिए उन्हीं पर दोष मढ़ा जाता रहता है ।

अध्यात्म का तात्पर्य है अपने आप का स्वरूप समझने और बलिष्ठ विकसित करने का विज्ञान क्रम । यही है उसका उद्देश्य एवं प्रयोग उपचार । इन दिनों तो उसे किन्हीं पूजा उपचारों के माध्यम से अमुक देवता को वशवर्ती बनाकर चित्र-विचित्र मनोकामनाओं की पूर्ति जादुई ढंग से करा लेने की कल्पना-जल्पना करना भर रही है । पर इससे क्या ? भ्रान्तियाँ-भटकाव ही उत्पन्न कर सकती है उनसे कुछ काम थोड़े ही बनता है । जिन्हें भी आत्म-विज्ञान में तात्विक अभिरुचि है, उन्हें समझाना होगा कि आत्म निर्माण के लिए किया गया पुरुषार्थ ही उलझी हुई समस्याओं का समाधान है । इस पुरुषार्थ के लिए आत्म अवलम्बन, आत्म विश्वास और आत्म भूमि की दार्शनिक पृष्ठ भूमि होनी चाहिए ।

आत्मबोध को मानव जीवन की सर्वोपरि उपलब्धि माना गया है । इसी के आधार पर मनुष्य अपनी सत्ता, महत्ता, क्षमता एवं सम्भावना का मूल्यांकन कर सकने में समर्थ होता है । इस अनुभूति के साथ-साथ वह पराक्रमशीलता भी उभरती है जिसके सहारे अपने संचित कुसंस्कारों को समझना, उनकी हानियों को अनुभव करना तथा उखाड़ने के लिए संकल्पपूर्वक जुट जाना सम्भव हो सके । उखाड़ने में जितना पराक्रम चाहिए, प्रायः उतना ही उत्कृष्टता के अनभ्यस्त आधारों को अपनाने और

स्वभाव का अंग बना लेने की मंजिल पूरी करने में भी नियोजित करना पड़ता है । अपने हाथों अपने आप को गलाना–ढालना बड़ा काम है । उसे करने के लिए असामान्य संकल्पशक्ति चाहिए । उसी के उपार्जन, अभिवर्धन के लिए जिन साधनाओं की आवश्यकता पड़ती है, उनमें चान्द्रायण को मूर्धन्य माना गया है । इसमें उन सभी तत्वों का समावेश है, जिनमें आत्म–शोधन और आत्म–परिष्कार के दोनों प्रयोजन साथ–साथ सधते चलें । उसे परम्परागत धर्मानुष्ठानों की तरह सामान्य व्रत उपवासों की तरह नहीं माना जाना चाहिए । इस प्रक्रिया के पीछे ऐसे तथ्यों का समावेश है जिसका प्रतिफल उज्ज्वल भविष्य के निर्धारण में असाधारण रूप से सहायक सिद्ध होता है । यह साधना आस्थापरक है । उसमें श्रद्धा, प्रज्ञा और निष्ठा को प्रभावित करने वाली, अन्तराल को उत्कृष्टता के साथ जोड़ देने वाली क्रिया–प्रक्रिया का समावेश दूरदर्शिता एवं तत्वान्वेषी सूक्ष्म बुद्धि के साथ किया जाता है ।

परिस्थितियों को ही सब कुछ मानने वाले, साधनों को ही सौभाग्य समझने वाले लोगों को नये सिरे से अध्यात्म की वर्णमाला पढ़नी पड़ेगी और सिद्ध करना पड़ेगा कि परिस्थितियाँ एवं सम्पन्नताएँ मानवी प्रगति की आवश्यकता का एक बहुत छोटा अंश पूरा करती हैं । विभूतियों का उद्गम मानवी अन्तराल है । उसे सम्भाला सुधारा जा सके तो सुखद सम्भावनाओं का स्रोत हाथ लग जायेगा । फिर किसी बात की कमी न रहेगी । पाताल–फोड़ कहे जाने वाले कुओं को चट्टान के नीचे वाली जल धारा का अवलम्बन मिलता है । फलतः निरन्तर पानी खींचते रहने पर भी उसकी सतह घटती नहीं । जितना खर्च होता है, उतना ही उछलकर ऊपर आ जाता है । मनुष्य को अनेक क्षेत्रों में काम करना पड़ता है । उनके लिए अनेक प्रकार की शक्तियों की आवश्यकता पड़ती है । सम्वर्धन के लिए एक प्रकार की तो बौद्धिक क्षमता का विकास करने के लिए दूसरे प्रकार की । सूझ–बूझ एक बात है और व्यवहार कुशलता दूसरी । विद्वता दूसरी चीज है और एकाग्रता का रूप दूसरा है । कलाकारों का ढाँचा एक प्रकार का होता है और योद्धाओं का दूसरा । इन सभी को अपने ढंग की शक्तियाँ चाहिए । उनके अभाव में सफलता तो दूर, कुछ कदम आगे बढ़ चलना

तक सम्भव नहीं होता । कहना न होगा कि असंख्य सामर्थ्यों का असीम भण्डागार मनुष्य के अन्तराल में विद्यमान है । यह चेतना क्षेत्र का एक वृहत्तर महासागर है जिसमें हर स्तर की सामर्थ्य खोज निकाली जा सकती है । कहना न होगा कि दृश्यमान सभी सफलताओं, विभूतियों का उपार्जन एवं उपयोग इसी अन्य शक्ति के सहारे सम्भव होता है । उसके अभाव में जीवित मृतकों जैसी अशक्तता ही छाई रहेगी ।

उपरोक्त तथ्यों पर सहसा विश्वास नहीं होता । इन दिनों आत्मा का अस्तित्व तक संदिग्ध माना जाता है और उस क्षेत्र में सन्निहित सामर्थ्यों के प्रभाव पर अविश्वास किया जाता है । ऐसी दशा में यह अति कठिन हो जाता है कि प्रत्यक्षवादी विचारशील वर्ग को यह विश्वास दिलाया जा सके कि वे आत्मबल का महत्त्व समझें और उसके उपार्जन का सच्चे मन से प्रयत्न करें । यदि यह तथ्य गले न उतरे, तो फिर साधना क्षेत्र की कोई भी क्रिया उथले मन से लकीर पीटने की तरह ही किसी प्रकार धकेली–घसीटी जाती रहेगी । श्रद्धा और विश्वास के अभाव में उत्कृष्टता के पक्षधर प्रयासों के साथ तादात्म्य जुड़ सकना कठिन है । मात्र पशु प्रवृत्तियों में वह आकर्षण है कि वासना, तृष्णा और अहंता की पूर्ति के लिए उत्तेजित करती और कुकर्म कराती रहे ।

भौतिक क्षेत्र के प्रत्येक कार्य की प्रतिक्रिया हाथो–हाथ दृष्टिगोचर होती है । धूप में बैठते ही शरीर गरम होने लगता है और स्नान करने पर ठण्डक प्रतीत होती है । श्रम करने पर थकान और विश्राम के बाद ताजगी का अनुभव होता है । भूख लगने पर बेचैनी और पेट भरने पर तृप्ति का अनुभव किया जा सकता है । लोग इसी प्रकार का प्रमाण चाहते हैं कि आत्मिक प्रयत्नों एवं परिवर्तनों का भी क्या कोई प्रभाव उत्पन्न होता है । इस संदर्भ में एक बड़ी कठिनाई यह है कि अपनी आंतरिक स्थिति का सही अनुभव स्वयं तक को नहीं हो पाता । मान्यताएँ ही सिर पर चढ़ी रहती हैं और उन्हीं का भला–बुरा प्रभाव दृष्टिगोचर होता रहता है । चेतना क्षेत्र की वस्तुस्थिति का सही मूल्यांकन कर सकना अति कठिन है । फिर जब अपने स्वयं के बारे में भी स्थिति की यथार्थता का अनुभव नहीं हो पाता तो दूसरे के सम्बन्ध में कुछ

सही निष्कर्ष कैसे निकले ? मूर्धन्य तत्वदर्शियों के अतिरिक्त गहराई में उत्तर कर कौन समझे और कौन समझाये ? ऐसी दशा में आत्मिक प्रयोगों की परिणति का स्वरूप समझना एक अत्यन्त जटिल प्रक्रिया है । इतने पर भी यह कठिनाई बनी ही रहेगी कि आत्मिक प्रयत्नों की प्रतिक्रिया को उपयोगी–उत्साहवर्धक न माना गया तो फिर सर्वसाधारण के लिए विशेषतया बुद्धिजीवी वर्ग के लिए यह अति कठिन होगा कि वे परिपूर्ण श्रद्धा विश्वास के साथ उस क्षेत्र में आगे बढ़ें । अन्यमनस्क प्रयत्न भी सांसारिक क्षेत्र में तो कुछ न कुछ परिणाम उत्पन्न करते हैं, पर अध्यात्म क्षेत्र में तो ऐसे निष्प्राण प्रयास प्रायः निराशाजनक ही रहते हैं ।

इस असमंजस को दूर करने के लिए कल्प साधकों के लिए ब्रह्मवर्चस् शोध संस्थान में एक विशेष कक्ष की स्थापना की गई है जिससे साधकों की आस्था एवं चेष्टा की गम्भीरता तथा उसकी प्रतिक्रिया को वैज्ञानिक यंत्र उपकरणों के सहारे परखा जा सके । किस प्रयोग का शरीर एवं मन के किस क्षेत्र पर कितना, किस स्तर का प्रभाव पड़ा–इसका विवरण प्रस्तुत कर सकने वाले बहुमूल्य वैज्ञानिक यंत्र उपकरणों की यहाँ व्यवस्था है जिनकी साक्षी से यह जाना जा सकता है कि साधनारत व्यक्ति अपने प्रयत्न का समुचित प्रतिफल प्राप्त कर रहे हैं या नहीं ।

इस आवश्यकता की व्यवस्था न केवल आस्था के क्षेत्र के प्रयत्नों की परिणति जानने के लिए करनी पड़ी है, वरन् इसलिए भी की गई है कि साधक के शारीरिक, मानसिक एवं अन्तःकरण का स्तर जाँचा जा सके और उनमें जहाँ जो त्रुटियाँ–विकृतियाँ दृष्टिगोचर हों, उनके निराकरण का उपाय बताना, तदनुरूप वैयक्तिक साधना क्रम निर्धारित कर सकना सम्भव हो सके । यदि एक प्रयोग सफल नहीं होता या मन्द प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है तो उसका स्थानापन्न दूसरा निर्धारण किया जा सके, अन्य कदम उठाया जा सके ।

प्रगति क्रम किस गति से चला इसकी सही जानकारी अनुमान के आधार पर नहीं लग सकती । व्यक्ति उत्साहित, आशान्वित, विश्वासयुक्त हो तो थोड़ी प्रगति भी बड़ी लगेगी और यदि वह निराशाग्रस्त, दीन, दुःखी प्रकृति का हो तो बड़ी सफलता भी अकिंचन लगेगी या उसका पता ही

न चलेगा । इस कठिनाई का हल वे वैज्ञानिक उपकरण ही कर सकते हैं जो न केवल साधक की मनःस्थिति–परिस्थिति बताते हैं, वरन् प्रयोगों की प्रतिक्रिया भी व्यक्त करते हैं ।

ब्रह्मवर्चस् शोध संस्थान के सम्बन्ध में प्रज्ञा परिवार के सभी परिजनों को सामान्य जानकारी है । उसे अध्यात्म तथ्यों को विज्ञान की कसौटी पर परखने के उद्देश्य से स्थापित किया गया है । अभीष्ट प्रयोजनों के लिए उसमें ऐसे बहुमूल्य यंत्र उपकरण लगाये गये हैं जिससे मनुष्य की प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष परिस्थितियों की जानकारी हो सके । साथ ही किसी प्रयत्न प्रयोग के आधार पर उत्पन्न होते रहने वाले उतार चढ़ावों का लेखा–जोखा सही रूप में प्रस्तुत कर सकना सम्भव हो सके । सम्बद्ध विषयों में स्नातकोत्तर विशेषज्ञ इन यंत्रों का प्रयोग करके यह पता चलाते हैं कि साधना से सिद्धि की दिशा में बढ़ने–बढ़ाने की प्रक्रिया किस सीमा तक किस गति से सफल या असफल रह रही है । इस व्यवस्था से साधकों को जहाँ साधना क्रम में आवश्यक हेर–फेर करने की सुविधा रहेगी, वहीं सफलताओं का प्रत्यक्ष परिचय मिलने से अनास्था की मनोभूमि भी विश्वासी बन सकेगी । इस आधार पर अधिक श्रद्धा उत्पन्न करना और उस आधार अधिक पर सफलता प्राप्त कर सकना भी सम्भव हो सकेगा ।

जैसा कि कहा जा चुका है शरीर व मन में घट रही चेतन प्रतिक्रियाओं एवं आंतरिक स्थिति में साधनावधि में प्रकट होते रहने वाले उतार–चढ़ावों का मूल्यांकन न व्यक्ति द्वारा स्वयं सम्भव है न उपकरणों द्वारा । लेकिन इन्हें अवधि विशेषों में माप कर उनका स्थायी रिकार्ड लेकर किसी परिणाम पर पहुँचना विज्ञान की सहायता से पूर्णतः सम्भव है । कुछ ऐसी स्थितियाँ भी विनिर्मित होती हैं जहाँ दावे के साथ कहा जा सकता है कि घटित होने वाली प्रतिक्रिया साधना विशेष की फलश्रुति है । कल्प साधना आरम्भ की जाने के पूर्व उपकरणों के माध्यम से साधक की शारीरिक व मानसिक स्थिति का विश्लेषण तथा साधना की अवधि में समय–समय पर उस प्रगति का पुनः विश्लेषण–यही प्रक्रिया दर्शा सकती है कि प्रायश्चित प्रक्रिया, कल्प साधना व उसके कठोर नियमोपनियमों के पालन से क्या बदलाव आया ? इस आधार पर मार्गदर्शक द्वारा आगे समय–समय पर

परिवर्तन सुझाये जाते हैं जो प्रायश्चित से लेकर औषधि कल्प, आहार कल्प, साधना क्रम किसी भी रूप में हो सकते हैं ।

ब्रह्मवर्चस् की शोध में शारीरिक व मानसिक स्थिति का विश्लेषण मापन करने वाले ऐसे उपकरणों का प्रयोग किया जाता है जो सूक्ष्मतम परिवर्तनों को बता सकें । एक माह की अवधि कोई इतनी विशेष नहीं है कि कोई बहुत बड़ा परिवर्तन शरीर में हो जाय । यह तो हठीले कुसंस्कारों से मुक्ति पाने वाले मनोबल को और भी शक्तिशाली बनाकर उसके द्वारा चिंतन व व्यवहार पर नियंत्रण करने का अभ्यास है । जो जितने अधिक समय तक कठोरता के साथ नियमों को जीवन में उतारता है, उन्हें अपनी भावी जीवन की रीति–नीति बनाता है, उसके अन्दर उतने ही अधिक प्रभावशाली परिवर्तन देखने में आते हैं ।

अस्पतालों में की जाने वाली रोगों की परीक्षण प्रक्रिया की ही तरह उसमें भी बाह्य परीक्षण की व्यवस्था है । अपने शरीर के विभिन्न पैरासीटर्स की नाप. तौल भार, सीने का फैलाव, नाड़ी की गति, श्वास की गति, तापमान, हृदय, फेंफड़ों, लीवर, पेट की आँतों तथा स्नायु संस्थान की विभिन्न हलचलों का शारीरिक परीक्षण इसी में आता है, जिसे फिजीकल एग्जामिनेशन *(Physical Examination)* कहते हैं । इसी के साथ जुड़ा है मनः विश्लेषण एवं विभिन्न यंत्रों द्वारा अचेतन व चेतन मन की विभिन्न गतिविधियों का परीक्षण । इसमें मनोवैज्ञानिक यंत्रों से सुसज्जित प्रयोगशाला में साधक की विभिन्न आदतों, प्रवृत्ति, भावी रीति–नीति एवं व्यक्तित्व का सप्टीट्युड एडाप्शन, रिएक्शन, टाइम इल्युजन्स, परसेप्शन आदि प्रयोग तथा प्रश्नावली के माध्यम से विश्लेषण कर साधना आरम्भ करने के पूर्व की मनःस्थिति का निर्धारण कर लिया जाता है । कल्पकाल की तपश्चर्या अचेतन के परिष्कार से जुड़ी हुई है । अचेतन को यंत्रों द्वारा न तो मापा जा सकता है, न ही देखा जा सकता है । इसकी प्रतिक्रियाएँ जरूर देखी जा सकती है । मानसिक ग्रन्थियाँ, मन में चल रहे ऊहापोह तथा परम्परागत निर्धारण अन्दर की प्रतिक्रियाओं को एवं अन्तःस्थिति को उजागर करने वाले प्रश्न जिस स्वरूप को दर्शाते हैं, उनका वैज्ञानिक रीति से विश्लेषण कर अचेतन मन की प्रारम्भिक

स्थिति का स्वरूप बना लिया जाता है । इसके बाद मध्यावधि तथा अन्त में किये जाने वाले मापन, प्रायश्चित्त प्रक्रिया तथा तपश्चर्या के उतार–चढ़ाव आरम्भ होने के बाद से निश्चित ही अलग प्रकार के व साधना से परिष्कार के निर्णायक होते हैं ।

इस सब प्रयोगों के बाद पैथार्लोजी परीक्षण क्रम आरम्भ होता है । एक में घुले विभिन्न रस द्रव्य, रक्तकोष अलग–अलग यंत्रों से अपनी स्थिति का आभास देते रहते हैं । लाल कणों की मात्रा अनुपात, उनका परस्पर एक दूसरे से अलगाव–विलगाव, लोह तत्व की मात्रा, सफेद कणों की मात्रा व भिन्नता का प्रारम्भ में हिमोग्लोवीन टी. आर. बी. सी., टी. डी. एल. सी. तथा इ. एस. आर. प्लेट्लेट्स के मापन द्वारा विश्लेषण कर लेते हैं । जीवनी शक्ति को नापने के लिए प्रारम्भिक परीक्षण जरूरी है । हिमेटॉलाजी कक्ष में इन प्रयोगों के उपरान्त बायोकेमिस्ट्री कक्ष में असामान्य अवस्था वाले साधकों के लिए गये अल्प रक्त का आधुनिकतम तकनीकी से युक्त उपकरणों द्वारा पी. एच. (रक्तकी अम्लता का मापन), रक्त की गैसें (ऑक्सीजन व कार्बनडाइ ऑक्साइड), रक्त में शकर, यूरिया, क्रिएटिनीन तथा अन्य एन्जाइम्स का मापन किया जाता है । सहायक के रूप में अन्य कई उपकरणों की मदद लेकर इन मापनों से यह अनुमान लगाया जाता है कि बाहर से स्वस्थ दृश्यमान साधक की आन्तरिक स्थिति क्या है ? एन्जाइम्स द्वारा होने वाले रस स्रावों एवं चयापचयिक प्रक्रिया के परिणामस्वरूप नित्य विकार शोधन तथा मल संचय की प्रक्रिया कालान्तर में क्या परिणाम उत्पन्न कर सकती है तथा इस निदान के उपरान्त चिकित्सा का निर्धारण किस प्रकार किया जाय ? यह परीक्षण इस दृष्टि से अति महत्वपूर्ण है । जैसे–जैसे संचित विकारों से निवृत्ति मिलती चली जाती है, रक्त में शुद्ध ऑक्सीजन की मात्रा बढ़ती व निस्सृत होने वाली कार्बनडाय ऑक्साइड गैस की मात्रा घटती चली जाती है, रक्त गैस विश्लेषक यंत्र इस परीक्षण में सहायता करता है ।

सूक्ष्म रसस्रावों, हारमोन्स का 'रेडियोइम्यूनोएसे' तकनीक द्वारा विश्लेषण इस साधना परीक्षण की विशेषता है । ग्रन्थियों के खुलने, शरीर के तपश्चर्या की भट्टी में गलने से तनाव उत्पन्न करने वाले हारमोन्स की

रक्त में कमी तथा चक्रवेधन साधना द्वारा सूक्ष्म उपत्यिकाओं से इन न्यूरो–ह्यूमरल स्रावों का रक्त में बढ़ना साधना की प्रतिक्रिया की विभिन्न ऊर्ध्वगामी स्थितियाँ हैं ।

कल्पकाल में विशिष्ट साधनाओं, नित्ययज्ञ एवं औषधि कल्क सेवन के फलस्वरूप प्राणशक्ति कितनी बढ़ी, फेंफड़ों की रक्तशोधन क्षमता में अभिवृद्धि किस गति क्रम से हुई, इसके लिए स्पायरोग्राम की सहायता ली जाती है । प्राणायाम प्रक्रिया से फेंफड़ों के आयतन में वृद्धि तथा 'लंगफक्शन्स' में परिवर्तन प्रत्यक्षतः ग्राफ में रिकार्ड होता चला जाता है । शारीरिक विद्युत ओजस्, तेजोवलय एवं ब्रह्मवर्चस् के रूप में दृष्टिगोचर होती है । इन्हें मात्र देखा व इनका मूल्यांकन किया जा सकता है, यंत्र द्वारा मापा नहीं जा सकता । फिर यह विद्युत् कुछ स्थान विशेषों पर केन्द्रीभूत होती है जहाँ उसका इलेक्ट्रोडों द्वारा ग्राफिक अंकन कर यह बताया जा सकता है कि बिखराव को समेट लेने से कायिक विद्युत में क्या परिवर्तन आते हैं । मल्टीचैनेल पॉलीग्राफ की सहायता से विशेषज्ञगण मस्तिष्कीय विद्युत (इलेक्ट्रो एनसेफेलोग्राफ), हृदय की विद्युत (इलेक्ट्रो मार्डियोग्राफ), स्कीन रेजीस्टेन्स, बॉडी के पेसीटेन्स, फोनोकार्डियो, प्लेथिस्मोग्राफी, नर्वक–उक्शन इत्यादि अनेक प्रकार के मापन करते हैं जो साधना की प्रगति की दिशा बताते हैं । ध्यान प्रक्रिया से, जप–साधना से, मंत्र योग से, आहार कल्प से एवं निर्धारित औषधि लेने से क्या–क्या परिवर्तन ई. ई. जी. तथा अन्य आकलनों में आये, भिन्न–भिन्न समय पर इसका विश्लेषण कर अध्यात्म उपचारों की वैज्ञानिकता प्रामाणिकता की जाती है । हृदय का साधना में अपना विशिष्ट स्थान है । अंगुष्ठ मात्र कारण शरीर का स्थल माना जाने वाला, अनाहत चक्र के समीपस्थ, पेसमेकर के माध्यम से सारी शरीर प्रक्रियाओं को चलाने वाला यह केन्द्र कल्प साधना से विशिष्ट रूप से किस प्रकार प्रभावित हुआ ? पूर्व में कुछ शारीरिक व्यापारों के बाद तथा कल्प चिकित्सा के उपरान्त ई. सी. जी. में क्या परिवर्तन आया, इसका रिकॉर्ड कॉर्डियालाजी कक्ष में लिया जाता है ।

इन सभी वैज्ञानिक जानकारियों के विस्तार जानना साधक के लिए एवं साधारण पाठक के लिए जरूरी नहीं । मात्र यह ज्ञान होना चाहिए कि

अध्यात्म अनुशासन की यह साधना न केवल विज्ञान सम्मत है अपितु प्रत्यक्ष परिणाम देने वाली हैं । साधना क्षेत्र में भी भौतिक क्षेत्र की भाँति क्रिया की प्रतिक्रिया हाथों हाथ दृष्टिगोचर होती है इस तथ्य को हर साधक अपनी आँखों के सामने प्रत्यक्ष घटते देखता है । आते समय की मनःस्थिति एवं विदा के समय की स्थिति में जमीन–आसमान जैसा अन्तर दीख पड़ता है । प्रारम्भ में जहाँ एक माह की अवधि एक वर्ष के बराबर लगती थी, वाष्पसिद्ध आहार कैसे मन को रुचेगा तथा रसीले सुस्वादु व्यंजनों की अभ्यस्त जिह्वा उसे एकरसता से कैसे ग्रहण करेगी, इस प्रश्नवाचक चिह्न का उत्तर धैर्यवान साधक चमत्कारी रूप में अपने शारीरिक, मानसिक आत्मिक स्वास्थ्य में आमूल–चूल परिवर्तन के रूप में पाते हैं । यह बात अलग है कि मात्र कृत्य को ही महत्व देकर एक माह की लकीर पीटकर प्रयोग–परीक्षण का तमाशा देखने की किसी इच्छा रही हो । ऐसे व्यक्तियों में बहुधा परिवर्तन नही होते । जब तक मन की गाँठे न खुलें, शोधन, वमन. विरेचन की प्रक्रिया पूरी नहीं हो तब तक अन्दर कुछ प्राणवान कहा जाने वाला आध्यात्मिक अनुदान प्रविष्ट कैसे हो ? वह न हो तो परिवर्तन कहाँ से उत्पन्न हो ? यह सब सूक्ष्म स्तर की परिणतियाँ हैं जिनकी स्थूल अभिव्यक्ति मात्र प्रयोग परीक्षणों के निष्कर्षों में दिखाई देती हैं ।

हर साधक को जाते समय उनकी जाँच पड़ताल का निष्कर्ष पत्रक दिया जाता है । 'इनडोर सेनिटोरियम' में भरती होते समय की स्थिति व जाते समय की स्थिति का उसमें स्पष्ट उल्लेख होता है । इन्हें देखकर हर कोई यह अन्दाज लगा सकता है कि पूर्व की तुलना में जाते समय निश्चित ही स्थिति बदली, शोधन प्रक्रिया द्वारा पुराना ढर्रा बदला एवं चिंतन से लेकर अन्तः की उमंगों तक, काय गतिविधियों से लेकर बहिरंगी व्यवहार में आमूल–चूल परिवर्तन आया । यही आध्यात्मिक भाव कल्प है । यह पुर्णतः वैज्ञानिक तथ्यों, प्रमाणों पर आधारित है, इसे दशनि का प्रयास ही ब्रह्मवर्चस् में किया जाता है । प्रत्यक्ष को सामने देखकर किसी को स्वीकारने में न नुच करना भी नहीं चाहिए । न केवल साधक समुदाय की तुष्टि के लिए वरन् इस बुद्धिवादी युग में वैज्ञानिक समुदाय की सहमति के लिए बिना इतनी बड़ी प्रतिष्ठापना सम्भव भी नहीं है । ❋

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा